

दयानन्दसन्देश

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मासिक पत्र

मई २०१७

Date of Printing = 05-5-17
प्रकाशन दिनांक= 05-5-17

वर्ष ४६ : अङ्क ७
दयानन्दाब्द : १६३
विक्रम-संवत् : बैसाख-ज्येष्ठ, २०७४
सृष्टि-संवत् : १,६६,०८,५३,११८

संस्थापक : स्व० ला० दीपचन्द आर्य
प्रकाशक व
सम्पादक : धर्मपाल आर्य
सह सम्पादक : ओम प्रकाश शास्त्री
व्यवस्थापक : विवेक गुप्ता

कार्यालय :

दयानन्दसन्देश (मासिक)

४२७, मन्दिर वाली गली, नया बांस,
खारी बावली, दिल्ली-६

दूरभाष : २३६८५५४५, ४३७८११६१

चलभाष : ६६५०५२२७७८

E-mail : aspt.india@gmail.com

एक प्रति ५.०० रु० वार्षिक शुल्क ५०) रुपये
आजीवन सदस्यता ५००) रुपये
विदेश में २०००) रुपये

<input type="checkbox"/> शास्त्रार्थ	२
<input type="checkbox"/> वेदोपदेश	३
<input type="checkbox"/> तीन तलाक व उसकी विडम्बना	४
<input type="checkbox"/> योगदर्शन में.....	७
<input type="checkbox"/> क्या महाभारत.....	१०
<input type="checkbox"/> स्वामी विवेकानन्द....	१४
<input type="checkbox"/> विद्या अविद्या	१६
<input type="checkbox"/> स्वामी दयानन्द.....	२२
<input type="checkbox"/> मैं का बोध....	२४
<input type="checkbox"/> साहित्य समीक्षा	२६

विशेष : दयानन्द सन्देश में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की पूर्णतया सहमति आवश्यक नहीं है। अतः किसी भी चर्चा/परिचर्चा एवं वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे।

सत्यार्थप्रकाश

प्रचार संस्करण

३००० रुपये सैकड़ा

स्पेशल (सजिल्द)

५००० रुपये सैकड़ा में प्राप्त करें।

शास्त्रार्थ

विषय	: क्या ईश्वर का अवतार होता है?
प्रधान	: श्री मास्टर बोधराज जी
दिनांक	: 20, 21 दिसम्बर सन् 1919 (दिन के दो बजे)
शास्त्रार्थ कर्ता	: शास्त्रार्थ महारथी श्री ठाकुर अमर सिंह जी 'आर्य पथिक' वर्तमान महात्मा अमर स्वामी जी महाराज एवं
सनातन धर्मियों की ओर से : श्री पं. गोकुल चन्द जी शास्त्री	

अप्रैल २०१७ से आगे

आर्यसमाज में जब शास्त्रार्थों का युग था, तब गैर आर्यसमाजी लोग आर्यसमाज में आते व बड़े चाव से हमारी बात सुनते थे। इसी बात को ध्यान में रखकर हमारे विद्वानों के शास्त्रार्थों में से एक शास्त्रार्थ का प्रसंग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

-सम्पादक

वास्तविकता यह है कि, ईश्वरावतार की कल्पना ही निराधार है, आपने अवतार होने के कारण इस प्रकार बताये।

१. धर्म की ग्लानि का होना।
२. अधर्म की बुद्धि होना।
३. धर्म की स्थापना।
४. धर्मात्माओं की रक्षा।
५. पापियों का विनाश।

आपके पुराणों में इसके विरुद्ध स्पष्ट लिखा है। आपके बताये सारे अवतार शाप से हुए। भृगु ऋषि की पत्नी का शिर विष्णु जी ने इन्द्र के कहने पर काट दिया। इस पर भृगु ऋषि ने विष्णु को शाप दिया।

देखिये -

अवताराः मृत्ये लोके, संतुमच्छाप संभवाः।

प्रायोगर्भभवं दुःखं भुंक्ष्व पापाज्जनार्दन॥८॥

देवी भागवत स्कन्द ४० अध्याय १२ श्लोक ८,
भृगु ने कहा-हे विष्णु मेरे शाप से मृत्यु लोक में

तुम्हारे अवतार हों, हे विष्णु तुम (अपने इस) पाप से गर्भ में होने वाले दुःखों को भोगो। देवी भागवत स्कन्द ५ अध्याय १६ श्लोक १८ में भी देखिये।

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कमठने कामं, मीनो बभूव कमठः खलुशूकरस्तु।

पश्चान्नृसिंह इति यच्छल कृद्धराया, तान सेवताम् जननी मृत्यु भयं न किंस्यात्॥१८॥

कृपित भृगु के द्वारा दिये गये शाप से विष्णु मछली बना अवतार धारण करके कच्छप बना, शूकर बना, पश्चात नृसिंह बना और भूमि पर छल करने वाला (बली राजा को ठगने वाला वामन) अवतार हुआ।

.... कहते हैं कि हे जननी!

उनको सेवन-पूजन करने वालों को मृत्यु का भय क्यों न होगा? अर्थात् अवश्य होगा, इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि, आपके भगवान का अवतार, धर्म का उद्धार करने के लिए नहीं प्रत्युत शाप का फलस्वरूप दुःख भोगने के लिए, कच्छप, मछली और सूकर, जैसी नीच योनियों में उसको जाना पड़ा।

और सुनिये-

भृगु पत्नी शिरच्छेदाद्भगवान्हरिरच्युतः॥३४॥

ब्रह्मा शापात्पश्योर्योनौ, संजातो मकरादिषु।

विष्णुश्च वामनो भूत्वा, याचनार्थं बर्लेग्रहे॥३५॥

अतः किं परम् दुःखं, प्राप्नोति दुष्कृती नरः।

रामोऽपि वनवासेषु, सीताविरहजं बहुः॥३६॥

शेष पृष्ठ २७ पर

ओ३म्

वेदोपदेश

विद्वानों के संग से सब मनुष्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, प्राण आदि अर्थात् सत्तरह तत्वों से युक्त लिङ्ग शरीर सबल स्वस्थ और समर्थ बनायें। दध्यङ्गार्थवर्णः ऋषिः। अग्निः (विद्वान्) देवता। पडिक्तः छन्दः। पञ्चमः स्वरः।। अथ विद्वत्सङ्गेन किञ्जायत इत्याह।। इस अध्याय के प्रथम मन्त्र में विद्वानों के सङ्ग से क्या होता है, इस विषय को कहते हैं।

ओ३म् ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये सामं प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ।। यजु० ३६/१।

पदार्थः (ऋचम्) प्रशंसनीयम् ऋग्वेदम्। (वाचम्) वाणीम् (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम्। (मनः) मननात्मकं चित्तम् (यजुः) यजुर्वेदम् (प्रपद्ये) (साम) सामवेदम् (प्राणम्) (प्रपद्ये) (चक्षुः) चष्टे पश्यति येन तत् (श्रोत्रम्) श्रणोति येन तत् (प्र पद्ये) (वा गौजो) वाक् मानसं बलम् (सह) (ओजः) शारीरं बलम् (मयि) आत्मनि (प्राण-अपानौ) प्राणश्चाऽपानश्च तावुच्छवासनिःश्वासौ।

सपदार्थान्वयः हे मनुष्याः। यथा मयि (प्राणापानौ) प्राणश्चाऽपानश्च तावुच्छवासनिःश्वासौ दृढौ भवेतां मम वाणी (ओजः) मानसं बलम् (प्र पद्ये) प्राप्नुयात् तथा तथा ताभ्यां च सह अहम् (ओजः) शारीरं बलम् प्राप्नुयाम् (ऋचम्) प्रशंसनीयम् ऋग्वेदं (वाचं) वाणीम् (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम् (मनः) मननात्मकं चित्तम् (यजुः) यजुर्वेदम् (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम् (साम) सामवेदं (प्राणं) (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम्। चक्षुः चष्टे = पश्यति येन तत् (श्रोत्रं) ऋणोति येन तत् (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम् तथा यूयमेतानि प्राप्नुत।।

भाषार्थः हे मनुष्यो! जैसे (मयि) मुझ में (प्राणापानौ) प्राण=उच्छवास, अपान=निश्वास दृढ़ हैं, मेरी (वाक्) वाणी (ओजः) मानसिक बल को प्राप्त

करती है, उस वाणी और उन प्राण-अपान से मैं (ओजः) शारीरिक बल को प्राप्त करता हूँ (ऋचम्) प्रशंसनीय ऋग्वेद की (वाचम्) वाणी को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ। (मनः) मननात्मक चित्त रूप (यजुः) यजुर्वेद को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ (साम) सामवेद रूप (प्राणम्) प्राण को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ, वैसे तुम इन्हें प्राप्त करो।

भावार्थः अत्र वाचक लुप्तोपमालङ्कारः। हे विद्वान्सो! युष्मत्सङ्गेन मम ऋग्वि प्रशंसनीयावाग् यजुरिव मनः साम इव प्राणः सप्तदश तत्वात्मकं लिङ्गं शरीरं च स्वस्थं निरूपद्रवं समर्थं भवतु।

भावार्थः इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे विद्वान् लोगो! आपके संग से मेरी ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, यजुर्वेद के तुल्य मन, साम के तुल्य प्राण और सत्तरह तत्वों से युक्त लिङ्ग शरीर स्वस्थ, उपद्रव रहित एवं समर्थ हो।

(“दयानन्द-यजुर्वेद-भाष्य-भास्कर”) से उद्धृत,
ब्याख्याता स्मृतिशेष श्री आचार्य सुदर्शनदेव)

तीन तलाक व उसकी विडम्बना

(धर्मपाल आर्य)

आजकल तीन तलाक का मुद्दा चर्चा का विषय बना हुआ है। कट्टरवादी विचारधारा को मानने वाले तीन तलाक और हलाला की परम्परा को जायज मान रहे हैं, जबकि उदारवादी विचारधारा को मानने वाले तीन तलाक के नियम को बदलने की आवश्यकता पर जोर दे रहे हैं। प्रश्न उठता है कि यह ट्रिपल तलाक इतना अधिक विवाद का, बहस का, चर्चा का और परिचर्चा का विषय क्यों बना? उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जिस समुदाय से ट्रिपल तलाक सम्बन्ध रखता है, उसी समुदाय की महिलाओं ने इससे आहत होकर उपरोक्त विवादास्पद मुद्दे के खिलाफ संगठित होकर अपनी आवाज बुलन्द की है। उपरोक्त तलाक का मुद्दा अधिक विवादास्पद इस लिए भी बना कि जब महिलाओं को उनके जीवन साथियों ने कभी फोन द्वारा, कभी फोन पर भेजे मैसेज (सन्देश) द्वारा, कभी व्हाट्सअप द्वारा, कभी ट्विटर द्वारा, कभी फेसबुक द्वारा, तो कभी रजिस्टर्ड (पञ्जीकृत) पत्र द्वारा, कभी राह चलते, तो कभी पत्नी द्वारा पुत्री को जन्म देने के कारण तलाक दे दिया। इस प्रकार तलाक महिलाओं और विशेषकर मुस्लिम महिलाओं पर अमानवीय अत्याचार का एक हथकण्डा बन गया। आल इन्डिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड अर्थात् मुस्लिम समाज का निजी कानूनी आयोग जिस प्रकार तीन तलाक से होने वाले अन्तहीन अत्याचार से आँखें मूँदकर कट्टरवादी नजरिये से देख रहा है, उससे मुझे नहीं लगता कि मुल्ला पर्सनल ला बोर्ड (मोहसिन रजा के अनुसार)

महिलाओं को न्याय दे पायेगा। शाहबानो से लेकर सायराबानो तक यह तीन तलाक न जाने कितने परिवारों की तबाही के ताबूत में कील साबित हुआ है। तब (शाहबानो के तलाक के समय) तत्कालीन सरकार ने मुस्लिम वोटों को पाने के लालच में अपनी जिम्मेदारी से बड़ी चालाकी से पल्ला झाड़ लिया लेकिन सायराबानो के मामले के आने तक समाज और सरकार की सोच में अप्रत्याशित बदलाव आया है, जिसके परिणामस्वरूप मुस्लिम महिलाओं के साथ-साथ बुद्धिजीवी मुस्लिम पुरुषों का भी एक बड़ा भाग तीन तलाक और हलाला के खिलाफ एकजुट हो रहे हैं। युसुफ अंसारी, तुफैल अहमद, डॉ. सैयद रिजवान अहमद, डा. मुफ्ती जाहिद, हुस्ने वहमद कादरी, अब्दुल बिस्मिल्लाह, जीनत शौकत अली, जाकिया सोमन और नाइश हसन आदि हैं, जिनके अनुसार तलाक, हलाला आदि मामले न केवल कुरान और इस्लाम की मूल भावना के एकदम विपरीत हैं, अपितु अव्यवहारिक, अप्रासङ्गिक तथा महिलाओं पर अत्याचार करने का एक हथकण्डा है। पाकिस्तान, बांग्लादेश समेत कई ऐसे इस्लामिक राष्ट्र हैं, जिनमें तीन तलाक पूर्णतया प्रतिबन्धित है। लेकिन भारत में कट्टरपंथ और छद्म धर्मनिपेक्षता का घिनौना नकाब मुस्लिम समाज से तीन तलाक और हलाला जैसी कुप्रथाओं के दल-दल से बाहर नहीं निकलने देता। इस्लामी कट्टरपंथ के अगुआ और देवबन्द के मौलाना नदीन उल वाजदी का तीन तलाक के पक्ष में, हलाला के पक्ष में बड़ा हास्यास्पद और बड़ा ही बेतुका तर्क है। वो कहते हैं हलाला तो औरत को



जायज करने का एक तरीका है तथा एस. एम. एस. , वाट्सएप, पोस्ट कार्ड द्वारा दिया गया तलाक वैसे ही जायज है, जैसे पोस्ट कार्ड से भेजा गया दावतनामा जायज है। इस्लाम में जिस प्रकार सुविधानुसार तीन तलाक, हलाला, जेहाद, बहुविवाह, पुरुष प्रधानता, अधिक से अधिक सन्तान उत्पत्ति जैसी कुप्रथाओं को धर्म की आड़ लेकर धर्म के ठेकेदारों द्वारा जिस प्रकार थोपने के क्रूर प्रयास किये, उससे समाज उत्थान की अपेक्षा पतन के रास्ते पर, न्याय की अपेक्षा अन्याय के रास्ते पर, मानवता की अपेक्षा दानवता के रास्ते पर, संवेदनशीलता की अपेक्षा संवेदनहीनता के रास्ते पर और मित्रता की अपेक्षा शत्रुता के मार्ग की तरफ अधिक बढ़ा है। कट्टरवाद मिश्रित हठधर्मिता न्याय और निष्पक्षता में सबसे बड़ी बाधा है। मेरे किसी परिचित ने मुझसे प्रश्न किया कि आप तलाक को भारतीय संस्कृति के अनुसार किस रूप में देखते हैं? मुझे उन महाशय का उक्त प्रश्न बड़ा अजीब लगा और मैंने उन महाशय से प्रतिप्रश्न करते हुए कहा कि महोदय, आप मुझसे ऐसा प्रश्न किस लिए कर रहे हैं? क्योंकि भारतीय संस्कृति में तो जोड़ने के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। चाहे आत्मा-परमात्मा हो, चाहे गुरु शिष्य हो, चाहे मित्र हो, चाहे भाई-भाई हो, माता-पिता हो, भाई-बहिन हो, राजा प्रजा हो, पिता-पुत्र हो , पति-पत्नी हो सबको जोड़ने की बात करना और उनको जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान करना, यह भारतीय संस्कृति की अन्य विशेषताओं में से एक है। लाजा होम में पत्नी प्रतिज्ञा करती हुई भगवान् से प्रार्थना करती है-**“आयुष्मानस्तु मे पति रेधन्तां ज्ञातयो मम”** अर्थात् हे प्रभो! मेरा पति आयुष्मान हो और परिवार (पतिकुल) के अन्य मेरे सभी सम्बन्धी वृद्धि और समृद्धि को प्राप्त करने वाले हों। पति कहते हैं **“सखे सप्तपदी**

भव सा मामनुव्रता भव” अर्थात् वरानने! तुम मेरे साथ गृहस्थाश्रम में सदा मित्रभाव से रहना और मेरे सत्य के, न्याय के, मानवता के, भक्ति के, एकता के और पवित्रता के व्रतों के अनुसार चलने वाली हो। मैं दूरदर्शन पर एक बार जब तलाक सम्बन्धी बहस को सुन रहा था, तो एक मुल्ला ने मनुस्मृति का हवाला देते हुए कहा कि मनु ने छल से, अपहरण द्वारा, बेहोश करके जो कन्या से विवाह किया जाता है, उसे विवाह के रूप में मान्यता दी है। मुझे उस मुल्ला की विवेक शक्ति पर तरस आता है। काश ! उसने संस्कार विधि में विवाह सम्बन्धी महर्षि दयानन्द की मान्यता का अध्ययन किया होता, तो शायद वो इस प्रकार की बिना सिर-पैर की बात नहीं करता। महर्षि ने मनु के अनुसार आठ विवाहों का उल्लेख किया है। उनमें ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस और पैशाच हैं। इनमें से प्रथम चार (ब्राह्म, देव, आर्ष और प्राजापत्य) को ही श्रेष्ठ माना है। शेष चार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) को निन्दित और त्याज्य माना है। जब विवाह जैसे पवित्र सामाजिक और पारिवारिक गठबन्धन के बीच में तलाक आयेगा, तो कहाँ की पारिवारिक पवित्रता और फिर कहाँ का पावन सामाजिक गठबन्धन। तलाक न केवल पति-पत्नी के सम्बन्धों में उथल-पुथल को पैदा करने वाला है, अपितु सामाजिक जीवन पर भी नकारात्मक प्रभाव डालने वाला है। यदि इस्लामी मामलों के विशेषज्ञ शामिश सिद्दीकी की बात को मानें, तो उन्होंने अपने लेख में स्पष्ट करते हुए लिखा है “इस्लाम में शादी को एक पवित्र बन्धन के रूप में माना गया है, जबकि तलाक को एक निन्दनीय कार्य। इसी विषय पर एक अन्य इस्लामी चिन्तक यूसुफ अंसारी लिखते हैं “कुरान में एक साथ तीन तलाक का ठोस आधार

नहीं है, फिर भी मजहबी रहनुमा इसे जारी रखने पर अड़े हैं। अंसारी जी आगे लिखते हैं- “मजहबी रहनुमाओं की एक साथ “तीन तलाक” को तीन ही मानने की जिद के चलते आए दिन तलाक की छुरी से हर रोज न जाने कितने परिवार टूट रहे हैं। कई मामलों में मासूम महिलाओं को ‘हलाला’ की लानत से भी गुजरना पड़ता है।” इस्लाम का बुद्धिजीवी वर्ग और महिलाएं तीन तलाक, निकाह हलाला, बहुविवाह, जेहाद और महिला की इच्छा के विपरीत अधिक बच्चे पैदा करने जैसी कुप्रथाओं के न केवल खिलाफ हैं, अपितु उपरोक्त कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए आन्दोलन के रास्ते पर चल पड़े हैं। आए दिन तलाक के बड़े अजीबोगरीब मामले सामने आ रहे हैं, जो आजकल मीडिया के लिए चर्चा का विषय बन रहे हैं बावजूद इसके कट्टरवादी तथा इस्लाम के तथाकथित मौलाना, मुफ्ती और काजी जबरदस्ती तलाक समेत सभी कुप्रथाओं को महिमा-मण्डित करने में लगे हुए हैं। मुस्लिम महिला आन्दोलन की संस्थापक सदस्या तथा तलाक को सुप्रीम कोर्ट में चुनौती देने वाली जकिया सोमन अपने एक लेख में लिखती हैं “अपने आपको मजहबी रहनुमा कहने वाले पितृसत्तात्मक गुटों ने मुस्लिम समाज पर अपनी पुरुष प्रधान एवं रूढ़िवादी समझ थोप रखी है। हैरत है कि तीन तलाक के कुरान के विपरीत होने के बावजूद ने उसे बरकरार रखने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं।” मुस्लिम महिला अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली मुस्लिम महिला नाइश हसन लिखती हैं “अल्पसंख्यक अधिकारों के नाम पर मुसलमान मर्द अपने लिए सब कुछ लेना चाहते हैं लेकिन औरत को वे अपनी मर्जी के मुताबिक देना चाहते हैं।” पाठक गण, मैंने तलाक के विरुद्ध उठे जिन स्वरो का उल्लेख किया

है, वह तो केवल प्रतीक मात्र हैं सबके नाम और तलाक, हलाला के विरुद्ध उठे उनके मुखरित स्वरो का उल्लेख करने लगा, तो मेरा यह लेख बहुत छोटा पड़ जायेगा और यह भी सत्य है कि वे मुखरित स्वर न तो जैनी हैं, न बौद्ध हैं, न ईसाई हैं न पारसी हैं, न सिख हैं, और न हिन्दू हैं, अपितु सब के सब मुस्लिम हैं। हमारे देश के अधिकांश राजनीतिक दलों का रवैया उपरोक्त मुद्दे पर लीपा-पोती वाला रहा है और हमारे राजनेता जब तथाकथित धर्मनिरपेक्षता का नकाब ओढ़ लेते हैं, तब तो उनकी संवेदनहीनता सीमा पार कर जाती है। तलाक का शोषक मुद्दा यदि तथाकथित धर्मनिरपेक्षता का नकाब ओढ़े राजनीति के भरोसे होता तो यह मुद्दा इसी प्रकार मुस्लिम महिलाओं की बहुमूल्य जिन्दगी के साथ खिलवाड़ करता रहता। मैं उन महिलाओं को वीराङ्गना के रूप में देखते हुए उनके अदम्य साहस की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता हूँ, जिन्होंने तमाम बाधाओं को दरकिनार करते हुए कठमुल्लाओं की धमकियों को धता बताते हुए महिलाओं को न्यायोचित अधिकार दिलाने के लिए क्रान्ति का शंखनाद किया। मैं उन इस्लामिक चिन्तकों को भी इस बात के लिए साधुवाद देना चाहूँगा, जिन्होंने अपनी निडर लेखनी से तलाक जैसे गलत मुद्दे पर अपनी बेबाक राय देकर मुस्लिम महिलाओं के संघर्ष को अपना सच्चा समर्थन दिया। राष्ट्रकवि दिनकर जी ने ठीक ही लिखा है-

**“जो सत्य जानकर भी न सत्य कहता है,
या किसी लोभ के विवश मूक रहता है।
उस कुटिल राजतन्त्री कदर्य को धिक है,
वह मूक सत्यहन्ता कम नहीं बधिक है।”**

□□

योगदर्शन में परिणाम

(उत्तरा नेरुकर, बंगलौर, मो.- 09845058310)

पिछले माह योगदर्शन-वर्णित जन्म-मृत्यु के चक्र और क्लेशों के सम्बन्ध को हमने देखा। इस बार हम वहीं निरूपित चित्त के परिणामों के किञ्चित् कठिन विषय पर चर्चा करेंगे। इस विषय में मेरा कुछ नया चिन्तन है। उसको मैं प्रस्तुत कर रही हूँ।

योग के आठ अंगों के अन्तर्गत धारणा, ध्यान व समाधि के अन्तिम तीन अंगों को समझाने के बाद, पतञ्जलि मुनि चित्त के तीन परिणामों को बताते हैं। ये इस प्रकार हैं-

१) व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावो निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ३/६ ॥

अर्थात् (व्युत्थान=) कार्यरत चित्त के संस्कारों के दबने और निरोध चित्त के संस्कारों के उत्पन्न होने से, चित्त निरोध के क्षण से युक्त हो जाता है, जो कि उसका निरोधपरिणाम (=निरोध-परिवर्तन) कहलाता है।

व्यास अपने भाष्य में लिखते हैं कि व्युत्थान संस्कार चित्त के धर्म होते हैं, परन्तु प्रत्ययात्मक या ज्ञानात्मक नहीं होते। इसलिए वे प्रत्ययों के निरोध करने पर चित्त को शान्त करने पर भी बने रहते हैं। निरोध संस्कार भी चित्त के धर्म के होते हैं। जब व्युत्थान संस्कार दबते हैं और निरोध संस्कार उजागर होते हैं, तब चित्त निरोधक्षण से अन्वित हो जाता है। उस चित्त के प्रतिक्षण संस्कार का बदलना “निरोध परिणाम” कहलाता है। वह संस्कारशेष चित्त निरोध समाधि = असम्प्रज्ञातसमाधि वाला होता है।

इस वर्णन में कुछ अपूर्णताएं हैं। संस्कार चित्त के धर्म होते हैं, इसमें तो कोई कठिनाई नहीं है। अब व्युत्थान संस्कार यदि प्रत्ययात्मक नहीं होते, तो वे कैसे होते हैं? चित्त तो प्रत्ययात्मक ही होता है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि में क्रमशः प्रत्ययों का ही निरोध करते आए हैं। अब यह नया धर्म कहाँ से आ गया?

दूसरे, वे ये भी नहीं बताते कि, यदि निरोध से व्युत्थान संस्कार शान्त नहीं होते, तो फिर वे कैसे दबते हैं? तीसरे, प्रतिक्षण क्या चित्त में व्युत्थान संस्कार उठते हैं, फिर दबते हैं, फिर निरोध संस्कार उठते हैं, जो उस चित्त का निरोध परिणाम है? परन्तु एक क्षण में तो एक ही संस्कार हो सकता है - या तो व्युत्थान संस्कार या फिर निरोध संस्कार। तो फिर चित्त में एक क्षण व्युत्थान संस्कार होगा और दूसरे क्षण निरोध। तो फिर सूत्र में बताया गया ‘निरोधक्षणचित्तान्वयः’ गलत हो जायेगा! इसलिए इन कारणों से यह व्याख्या सही नहीं है।

मेरे अनुसार, पतञ्जलि कह रहे हैं कि जे भी चित्त की चेष्टा है, वह व्युत्थान है। उसका चित्त में निरूपण व्युत्थान संस्कार द्वारा होता है- चित्त में neural activity होती है। जब सभी विचार बन्द हो जाते हैं, तब चित्त सम्पूर्णतया शान्त हो जाता है, निरुद्ध हो जाता है, neural activity थम जाती है। यह है व्युत्थान संस्कारों का दबना और निरोध संस्कारों का उजागर होना। जिस क्षण वह निरोध संस्कार उत्पन्न होता है, उस क्षण में चित्त निरुद्ध हो जाता है। यह परिवर्तन ‘निरोधपरिणाम’ कहलाता है।

यही समाधि १/५१ में कही गई निर्बीज समाधि है- **तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात्रिर्बीजः समाधिः-**

निर्विचार समाधि की ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों का भी निरोध होने पर सब संस्कारों का निरोध हो जाता है; यह निर्बीज समाधि कहलाती है। इसका प्रमाण अगले ही सूत्र में मिल जाता है-

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ ३/१० ॥

अर्थात् उस चित्त की वृत्ति संस्कारों से शान्तता को लिए होती है- उसमें सभी संस्कार शान्त हो जाते हैं।

व्यास यहाँ कहते हैं, “निरोधसंस्कार के अभयास से कुशल हो जाने पर चित्त की प्रशान्तवाहिता (स्थिति) हो

जाती है। यदि वह निरोधसंस्कार मन्द हो जाए, तो व्युत्थान संस्कार पुनः निरोध संस्कारों पर हावी हो जाते हैं।” इस तरह वे सूत्र पर विशेष प्रकाश नहीं डालते हैं। तथापि वे ये मानते हैं कि ‘प्रशान्तवाहिता संस्कारात्’ का अर्थ निरोधसंस्कार होना है। वस्तुतः, निरोधसंस्कार संस्कार-शून्य होता है, क्योंकि उसमें चित्त निरुद्ध होता है। यही इस सूत्र का सीधा-सीधा अर्थ है। परन्तु केवल क्षणिक परिणाम के कहे जाने से संकेत मिलता है कि यह सभी समाधियों को कह रहा है, जिनकी पराकाष्ठा निर्वाज समाधि है। इस समाधिस्थ चित्त का लक्षण कहा गया था-

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्गृहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जना समापत्तिः ॥ १/४१॥

चित्त की वृत्तियाँ क्षीण होकर, निर्मल स्फटिक मणि के समान, ग्रहीता आत्मा, ग्रहण ज्ञान और ग्राह्य विषय में, उस-उस के स्वरूप वाला जैसा हो जाना समापत्ति, या समाधि-अवस्था है। और दूसरे -

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः-

केवल विषय का ज्ञान होना, स्वस्वरूप का जैसे लोप हो जाना समाधि कहलाती है। इस पिछले वाक्य में एक अन्य वाक्य ध्वनित होता है-

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का ॥ १/४३॥

जिसमें प्रथम स्तर की समाधि, वितर्का, का द्वितीय प्रभेद का वर्णन करते हुए बताया गया था कि स्मृति के परिशुद्ध हो जाने पर, अर्थमात्र का बोध होना और अपना स्वरूप न अनुभव होना निर्वितर्का समाधि है। “वृत्तियाँ क्षीण होती हैं (१/४१)” का अर्थ है कि चित्त निरोधावस्था में पहुँचने लगा- उसमें निरोधपरिणाम होने लगा, अर्थात् समाधि-अवस्था में निरोधपरिणाम होने लगता है। इस प्रकार ३/६-१० में समाधि-अवस्था को ही कहा गया है।

अब देखते हैं अगला परिणाम।

२) सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः ॥ ३/११॥

अर्थात् सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय चित्त का समाधिपरिणाम कहलाता है।

व्यास कहते हैं, “सर्वार्थता चित्त का धर्म है और एकाग्रता भी। सर्वार्थता का क्षय अर्थात् तिरोभाव होना, एकाग्रता का उदय अर्थात् आविर्भाव होना- इन दोनों धर्मों से युक्त चित्त समाधि को प्राप्त होता है। यह उसका समाधिपरिणाम है।” पुनः यहाँ वे कुछ भी स्पष्ट नहीं करते हैं।

सर्वार्थता का अर्थ है- सब विषयों में भ्रमण करने का भाव। एकाग्रता का अर्थ है एक विषय पर ध्यान लगाने का भाव। जब ये दो शक्तियाँ क्रमशः अस्त और उदित होती हैं, तब चित्त एकाग्र कहलाता है, और वह उसका समाधिपरिणाम होता है। क्योंकि एकाग्रता निरोध से पूर्व की स्थिति है, इसलिए यह समाधि परिणाम वस्तुतः ध्यानावस्था में प्राप्त होता है, समाधि में नहीं। ध्यान की परिभाषा भी यही है-

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३/२॥

एक देश में बन्धे चित्त को एक ही ज्ञान बने रहना ध्यान है। दूसरे शब्दों में एकाग्र होना ही ध्यान है।

अब तृतीय परिणाम-

३) ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्य-एकाग्रता परिणामः ॥ ३/१२॥

अर्थात् वैसे ही, पुनः तुल्य ज्ञान का शान्त और उदित होना चित्त का एकाग्रता-परिणाम है।

शान्त का यहाँ अर्थ है अतीत में जाना और उदय का अर्थ है वर्तमान में प्रकट होना। सो, जब एक क्षण से दूसरे क्षण में समान वस्तु के विषय में सोचते हैं, तब हमारे चित्त में एकाग्रता आती है।

व्यास यहाँ कहते हैं, “समाधि को प्राप्त चित्त में पूर्व ज्ञान शान्त होने पर, बाद वाला उसके सदृश उदित होता है। समाधि-चित्त दोनों से सम्बद्ध होता है। और यही क्रम समाधि के टूटने तक चलता रहता है। यही धर्मी चित्त का एकाग्रता-परिणाम है।” सो, व्यास एकाग्र-परिणाम को समाधि-प्राप्त चित्त का ही परिणाम मानते हैं। उस अर्थ का पोषक है, इस सूत्र में प्राप्त

‘ततः’ जिसका अर्थ ‘अनन्तर’ करना स्वाभाविक है। परन्तु क्या फिर यह पूर्व सूत्र के समानार्थ नहीं हो गया? दोनों में क्या भेद रहा? यदि पूर्व सूत्र अनेकाग्र चित्त को कह रहा था, तो वह समाधिस्थ कैसे हो सकता है? अथवा क्या पतञ्जलि ने एकाग्र का अर्थ ही उलट दिया है? व्यास ने स्वयं कहा था (सूत्र १/१ के भाष्य में) कि चित्तों की एकाग्रता बढ़ता क्रम इस प्रकार है- मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध। समाधि एकाग्रता से निरोध की ओर ले जाती है; तो यहाँ समाधि से एकाग्रता की ओर जाना कैसे मान्य हो सकता है?

वस्तुतः, सभी भाष्यकार समाधि-परिणाम को निरोध-परिणाम के पूर्व का मानते हैं। उसी क्रम से यहाँ भी एकाग्र परिणाम समाधि-परिणाम के पूर्व का है, ऐसा मानना उचित है। दूसरे शब्दों में, यह धारणावस्था का परिणाम है, जहाँ पतञ्जलि कहते हैं-

देशबन्धचित्तस्य धारणा। ३/१।।-

अर्थात् किसी देश-विशेष में चित्त को एकाग्र करना धारणा कहाता है। धारणा में चित्त थोड़ा-सा सीमित परिधि के देश में घूमेगा, एक बिन्दु पर केन्द्रित नहीं होगा। देश कहने का यही प्रयोजन है। उसका एक बिन्दु पर ठहरना जब हो जाता है, तब ध्यानावस्था प्राप्त हो जाती है। इसीलिए ३/१२ सूत्र में ‘तुल्यप्रत्यय’ कहा गया है, न कि ‘एकप्रत्यय’। और इसीलिए ‘ततः’ का अर्थ यहाँ ‘उसी प्रकार’ समझना चाहिए, न कि ‘उसके बाद’।

इन तीनों में एक और विशेषता है, जो कि अगले सूत्र में निरूपित है-

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।।३/१३।।

अर्थात् उपर्युक्त से भूतों और इन्द्रियों के धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम भी कह दिए गए- उन्हें समानता से समझ लेना चाहिए।

यहाँ व्यास ने धर्म, लक्षण और अवस्था परिणामों को समझाया है। वे कहते हैं कि, जैसे ३/६ सूत्र में व्युत्थान संस्कार-रूपी चित्त धर्म दबते हैं और निरोध

संस्कार उदय होते हैं, यह धर्म में परिवर्तन होने से, निरोध-परिणाम होने के साथ-साथ, धर्म परिणाम भी है। और निरोध संस्कार के उबरने से पहले, जो व्युत्थान संस्कारों का अभिभव होना दृढ़ होता है, और फिर निरोध संस्कारों का बलवान् होना होता है, वह अवस्था-परिणाम है, अर्थात् धर्म-परिणाम के मध्य में अवस्था-परिणाम होता है। वह धर्म-परिणाम से छोटे काल में होता है। लक्षण-परिणाम को वे अतीत, वर्तमान और अनागत (भविष्य) से सम्बद्ध बताते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में, निरोध संस्कार धर्म पहले अनागत में छुपा होता है। इसे वे अनागत लक्षण परिणाम कहते हैं। फिर वह वर्तमान में उजागर होता है। यह उसका वर्तमान लक्षण परिणाम हुआ। व्युत्थान संस्कार धर्म अतीत में चला गया। वह उसका अतीत-लक्षण-परिणाम होता है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस प्रकार तो लक्षण-परिणाम धर्म-परिणाम के समान हो गया। काल के कारण क्षय और उदय हो रहा है, वह तो धर्म-परिणाम में निहित है ही। और स्वयं काल के परिवर्तन की चर्चा तो व्यास कर नहीं रहे। इसलिए काल में धर्म का परिवर्तन एक ही वस्तु है- धर्म-परिणाम।

तो फिर लक्षण परिणाम क्या है? व्यास की धर्म-परिणाम की व्याख्या में ही इसका उत्तर छिपा है। वस्तुतः पतञ्जलि का ३/१३ सूत्र कह रहा है कि ऊपर हमने चित्त के धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम क्रमशः कह दिए; इसी से भूत और इन्द्रियों में ये परिणाम समान रूप में समझ लो। अर्थात् निरोध परिणाम धर्म-परिणाम है, समाधि परिणाम लक्षण परिणाम है और एकाग्रता-परिणाम अवस्था-परिणाम है।

संस्कार चित्त के धर्म हैं, यह निश्चक है। इसलिए उनमें परिवर्तन होना धर्म-परिणाम है। ग्यारहवें सूत्र में जो एकाग्रता और सर्वार्थता है, वे चित्त की शक्तियाँ हैं, धर्म नहीं। जब हम ‘एकाग्र चित्त’ कहते हैं, तब वह चित्त का धर्म होता है, क्योंकि वह चित्त में एक वस्तु के संस्कार को कहता है। परन्तु ‘एकाग्रता’ एकाग्र हो शेष पृष्ठ १८ पर

क्या महाभारत में मन्त्र हैं? (4)

(राजेश्वर आर्टि.मो०-09991291318)

प्रिय पाठकवृन्द! आज हम ऐसे युग में जी रहे हैं, जहाँ गुरु (अध्यापक) शिष्य के विद्यालय में प्रवेश लेते समय उसकी जाति पूछता है। मार्च के प्रारम्भ में चण्डीगढ़ उच्च न्यायालय ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि शिक्षक बच्चों से जाति पूछे, इससे शर्मनाक और क्या होगा? ऐसा शिक्षक बच्चों को क्या पढ़ायेगा? दलितों के नाम पर वोट की राजनीति करने वाले किसी नेता ने इस घृणित व्यवस्था का विरोध नहीं किया, क्योंकि इसी कारण दलित जाति का छात्र वहाँ सरकार से विशेष सुविधाएँ पाता है। पर वे ही तथाकथित दलित नेता लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व हुए द्रोणाचार्य की इसलिए निन्दा करते हैं कि उसने निम्न जाति का होने के कारण एकलव्य को पढ़ाने से मना कर दिया, पर गुरु-दक्षिणा में उसका अँगूठा (दाहिना) माँग लिया था।

जब डॉ० अम्बेडकर द्वारा निर्मित (इंग्लैंड के संविधान से संग्रहीत) भारत के संविधान में मात्र ७० वर्ष में एक सौ से अधिक परिवर्तन (संशोधन) हो चुके हैं, तो ५००० वर्ष पुराने ग्रन्थ में तो न जाने कितना परिवर्तन हुआ होगा। अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि द्रोणाचार्य पर लगाये गये ये आरोप सत्य हैं। वैदिक विद्वान् आचार्य प्रेमभिक्षु जी (मथुरा) ने माना है कि एकलव्य को शिक्षा न देने वाली बात आर्य सभ्यता के शत्रुओं ने अथवा मध्यकालीन अज्ञानों ने घड़ी है, क्योंकि जो द्रोण कर्ण से सूतपुत्र (महा. आदि., १३१-११), युयुत्सु से वैश्यापुत्र और सञ्जय से सूतों को पूर्ण शिक्षा देता है तथा जिस समय दासीपुत्र विदुर और सञ्जय का राजा और राजसभा में अखण्ड मान हो, उस समय में विद्यार्थी को विद्या से निराश करना ऐसा कहना निर्मूल घडन्त ही है।

स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने लिखा है कि ब्रह्मपुराण (१४/२८) के अनुसार एकलव्य निषादों द्वारा पालित था, निषाद नहीं था। हमारा ऐसा दृढ़ विश्वास और निश्चित मत है कि एकलव्य का सारा आख्यान ब्राह्मणों

को बदनाम करने उनकी अमानुषिक क्रूरता दिखाने के लिए महाभारत में प्रक्षिप्त किया गया है। यह भी सम्भव है कि मूर्तिपूजकों ने इस कथानक का प्रक्षेप किया हो। कोई गुरु अपने शिष्य को न तो हानि पहुँचा सकता है और न ही अँगूठा कटवा सकता है।”

यदि महाभारत का लेख प्रमाण मानें तो, द्रोणाचार्य ने अपने स्वार्थवश अपने प्रिय शिष्य अर्जुन आदि पाण्डवों की भी उपेक्षा कर दी थी- पाण्डवों को वन में भेजकर दुर्योधन आदि की चाण्डाल चौकड़ी ने जब द्रोण के प्रति समर्पण किया, तो वे सब कुछ जानते हुए भी उन अन्यायियों के समर्थन में खड़े हो गये और बोले- “मैं यथाशक्ति सम्पूर्ण हृदय से तुम्हारे अनुकूल प्रयत्न करता हुआ तुम्हारा साथ दूँगा। भक्तिपूर्वक अपनी शरण में आये हुए इन राजाओं सहित धृतराष्ट्र-पुत्रों का परित्याग करने का साहस नहीं कर सकता।” (सभा., ८०-३८,३६)

और महाभारत युद्ध के समय दुर्योधन के पक्ष में खड़े होकर ‘पुरुषो हि अर्थस्य दासः’ का राग अलापते हुए युधिष्ठिर को अपनी मजबूरी बताने लगे। इसे द्रोण का पाण्डवों के प्रति द्वेष न कहकर दुर्योधन के वैभव का लालच कहा जा सकता है। एकलव्य का अँगूठा माँगने में भी द्रोण का अपने प्रिय शिष्य अर्जुन के प्रति प्रगाढ़ स्नेह झलकता है, न कि एकलव्य की निम्न जाति के प्रति घृणा और अँगूठा माँगने का उद्देश्य एकलव्य की गति को अर्जुन के मुकाबले कुछ मंद करना था, बिल्कुल निष्क्रिय नहीं। यूँ तो अर्जुन भी बायें हाथ से तीर चलाता था। जातिगत घृणा वाली बात तो आज की उच्छृंखल राजनीति की उपज है। द्वेष भावना में अन्धे हुए ये लोग अपने समय की हर बुराई को अतीत पर थोप देते हैं। जबकि इन्हें पता होना चाहिए कि उस समय यह घृणित जाति-पाति नहीं थी। तभी तो एकलव्य निषादपुत्र होकर भी महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मानित राजाओं के समान पधारा था। शिशुपाल ने उसे मगधराज सहदेव, विराट और द्रुपद के समान

पराक्रमी बताया था (सभा० ४४-२१)। अर्जुन के कारण उसका अँगूठा काटा गया, इस बात को लेकर वह पाण्डवों से घृणा भी नहीं करता था। तभी तो युधिष्ठिर के अभिषेक के समय उसने बड़े सम्मान के साथ युधिष्ठिर के पैरों के समीप जूते लाकर रखे थे (सभा. ५३-८)।

एकलव्य की आड़ में आचार्य द्रोण पर जातिगत घृणा का लांछन लगाने वालों को सोचना चाहिए कि द्रोण के इस तथाकथित कार्य ने तो एकलव्य को आदर्श (गुरु भक्त) शिष्यों का शिरोमणि बना दिया है। आज उस कृत्य पर समाज में विद्वेष फैलाने वालो, कभी महाभारत पढ़कर देखना- गुरु दक्षिणा देते समय एकलव्य तो प्रसन्न था। पर उसका नाम लेने वाले घृणा का प्रचार कर रहे हैं। देखिये-

एकलव्यस्तु तत् श्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम् ।
किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः ॥
(आदि० १३१-५५)

न हि किंचिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम् ।
तमब्रवीत् त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतामिति ॥५६
एकलव्यस्तु तत् श्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् सत्ये च नियतः सदा ॥ ५७
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः ।

छित्त्वाविचार्य तं प्रादाद् द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः ॥ ५८
“यह सुनकर एकलव्य बहुत प्रसन्न हुआ और इस प्रकार बोला - भगवन् । मैं आपको क्या दूँ? स्वयं गुरुदेव ही मुझे उसके लिये आज्ञा दें। ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ आचार्य! मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो गुरु के लिये अदेय हो।’ तब द्रोणाचार्य ने कहा- ‘तुम मुझे हाथ का अँगूठा दे दो।’ द्रोणाचार्य का यह दारुण वचन सुनकर सदा सत्य पर अटल रहने वाले एकलव्य ने अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करते हुए पहले की ही भाँति प्रसन्नमुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच- विचार किये अपना दाहिना अँगूठा काटकर द्रोणाचार्य को दे दिया।”

यदि इस कृत्य के कारण एकलव्य के मन में द्रोणाचार्य के प्रति घृणा होती, तो वह महाभारत के युद्ध में द्रोणाचार्य के विरुद्ध पाण्डवों के पक्ष में खड़ा होकर द्रोण पर प्रहार कर प्रतिशोध लेता अथवा कर्ण की तरह अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी होकर अर्जुन से अपने वैर का बदला लेता।

जबकि महाभारत में किसी भी पाण्डव के साथ लड़ने का उसका मुख्य या गौण वर्णन नहीं है।

ये सब युक्तियाँ द्रोणाचार्य पर लगाये गये आरोपों को मिथ्या सिद्ध करती हैं। यदि वास्तव में द्रोणाचार्य ने निम्न जाति का होने के कारण एकलव्य को शिक्षा नहीं दी, तो यह निन्दनीय है। पर उस अतीत की निन्दा करने से वर्तमान नहीं बदल जाएगा। अच्छा हो ये निन्दक लोग बड़े नेताओं के बच्चों के विद्यालयों में गरीब परिवारों के बच्चों को भी प्रवेश दिलाएँ, जैसे अतीत में द्रुपद-द्रोण व कृष्ण-सुदामा साथ-साथ पढ़ते थे।

प्रिय पाठकवृन्द! पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय जी ने लिखा है- “पौराणिक काल में साहित्यिक मनोरंजन के लिए मनमानी कथाएँ गढ़ ली गईं। ऐसे किस्से हर युग में बनाये जाते हैं। परियों की कहानियाँ, जासूसी उपन्यास, चमत्कार चित्रण ये साहित्यकारों की कल्पना-शक्ति और पाठकों की विनोदप्रियता के क्रीडाक्षेत्र हैं। परन्तु जब धार्मिक ग्रन्थों में इनका पुट दे दिया जाता है, तो ये मनोविनोद के स्थान में भीषण भ्रान्तियों और दुःखदायी प्रथाओं के हेतु बन जाते हैं।”

पुराणों की कहानियों के कारण ही समाज में भ्रान्ति फैली कि देवता आकाश (स्वर्ग) में रहते हैं और मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग में जाते हैं। इस भ्रान्ति का निराकरण सबसे पहले स्वामी दयानन्द ने किया। पूना में प्रवचन देते समय उन्होंने कहा- “मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु जहाँ चल रही है, रमणीय वनस्पतियाँ जहाँ उगी हैं और जहाँ पर स्फटिक के सदृश निर्मल झर्झरोदक बह रहा है, ऐसे हिमालय की ऊँची चोटी पर विष्णु वास करने लगा। उसी को बैकुण्ठ भी कहते थे। फिर दूसरे हिमाच्छादित भयंकर ऊँचे प्रदेश में महादेव वास करने लगे, उसे कैलाश कहते थे। इसके आगे विष्णु और महादेव ये कुलों के नाम पड़ गये।...”

“कुबेर अलकापुरी के रहने वाले थे। यह सब इतिहास केदारखण्ड में वर्णन किया गया है। हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए हैं।... कश्मीर से लेकर नेपाल तक हिमालय की जो ऊँची-ऊँची चोटियाँ हैं, वहाँ देवता अर्थात् विद्वान् पुरुष रहते हैं।”

“प्राचीन समय में जिसको त्रिविष्टप (स्वर्ग) देश

कहते थे, उसको वर्तमान में मुल्क तिब्बत कहते हैं।”

अर्थात् देवताओं का स्वर्ग हिमालय पर्वत पर ही था, आसमान में नहीं। महाभारत में भी कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है- वनपर्व, अध्याय ४२ के अनुसार अर्जुन हिमालय के रास्ते से होकर स्वर्ग को गया था। वहाँ लिखा है कि इन्द्र के सारथि मातलि ने बागडोर खींचकर घोड़ों को काबू में किया और अर्जुन उस दिव्य रथ के द्वारा ऊपर की ओर जाने लगा।

वनपर्व के अध्याय १४६ में लिखा है कि काम्यक वन (हिमालय) में रहते समय द्रौपदी के कहने से भीम सुगन्धित कमल पुष्प लाने गया, तो मार्ग में एक बन्दर लेटा हुआ था-

दिवंगमं रुरोधाथ मार्गं भीमस्य कारणात्।

अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य सः॥ ६६

तं वानरवरं धीमान्तिकायं महाबलम्।

स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवन्तमिव स्थितम्॥ ८३

विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते।

देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा॥ ९३

कारुण्यात् त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे।

नातः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो॥ ९४

“तब उन्होंने (बन्दर-हनुमान ने) भीमसेन के हित के लिये स्वर्ग की ओर जाने वाला मार्ग रोक दिया। ताकि भीमसेन इसी मार्ग से स्वर्गलोक की ओर न चले जायें।”

“परमबुद्धिमान् बलवान् महाबाहु भीमसेन उस महान् वन में विशालकाय महाबली वानरराज को स्वर्ग का मार्ग रोककर हिमालय के समान स्थित....।”

“वीर! सिद्ध पुरुषों के सिवा और किसी की यहाँ गति नहीं है। यह देवलोक का मार्ग है, जो मनुष्यों के लिये सदा अगम्य है।”

“वीरवर! मैं दयावश ही तुम्हें आगे जाने से रोकता हूँ। मेरी बात सुनो। प्रभो, यहाँ से आगे तुम किसी प्रकार जा नहीं सकते। इस पर विश्वास करो।”

वनपर्व, अध्याय १५६ के अनुसार हिमालय स्थित विभिन्न नदियों, पर्वतों, तीर्थों आदि का भ्रमण करने के पश्चात् युधिष्ठिर ने भीम से कहा-

इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम्।

कथं भीम गमिष्यामी गतिरन्तरधीयताम्॥ १२

“भीमसेन! यह सिद्धसेवित पुण्य प्रदेश कुबेर का निवास स्थान (अलकापुरी) है। अब हम कुबेर के भवन में कैसे प्रवेश करेंगे? इसका उपाय सोचो।”

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे वागुवाचाशरीरिणी।

न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात्॥ १३

“महाराज युधिष्ठिर के ऐसा कहते ही आकाशवाणी बोल उठी- कुबेर के इस आश्रम से आगे जाना सम्भव नहीं है, यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है।”

वनपर्व, अध्याय १५६ में आष्टिषेण ने युधिष्ठिर से कहा-

इहस्थैरेव तत् सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः।

न कार्या वः कथंचित् स्यात् तत्राभिगमने मतिः॥

२१

न चाप्यतः परं शक्यं गन्तुं भरतसत्तमाः।

विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा॥ २२

देव दानव सिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च।

गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तमा॥ २८

“भरत कुलभूषण पाण्डवो! तुम्हें यहीं रहकर वह सब कुछ (गन्धर्वों, अप्सराओं आदि के नृत्य गीत संगीत) देखना या सुनना चाहिये। वहाँ पर्वत के ऊपर जाने का विचार तुम्हें किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये। भरतश्रेष्ठ! इससे आगे जाना असम्भव है। वहाँ देवताओं की विहारस्थली है। वहाँ मनुष्यों की गति नहीं हो सकती। भरतश्रेष्ठ! पर्वत का यह शिखर देवताओं, दानवों, सिद्धों तथा कुबेर का क्रीडा-कानन है।”

महाप्रस्थानिक पर्व से भी यही स्पष्ट होता है कि पाण्डव परीक्षित को राजा बनाकर अन्त में हिमालय पर्वत पर ही गये थे। वहीं द्रौपदी व अन्य पाण्डव मार्ग में गिर पड़े थे। इसके बाद देवराज इन्द्र का रथ युधिष्ठिर को स्वर्ग में ले जाने के लिए आया, तो युधिष्ठिर ने कहा-

भ्रातरः पतिता मेऽत्रगच्छेयुस्ते मया सह।

न विना भ्रातृभिः स्वर्गमिच्छेः गन्तुं सुरेश्वर॥

“देवेश्वर! मेरे भाई मार्ग में गिरे पड़े हैं। वे भी मेरे साथ चलें, क्योंकि मैं भाइयों के बिना स्वर्ग में नहीं जाना चाहता।”

इन्द्र से यह सुनकर कि वे स्वर्ग में मिलेंगे, युधिष्ठिर उसके रथ में बैठ गये। पर स्वर्ग में जाकर भाइयों को

न देखकर युधिष्ठिर फिर बोले-

तैर्विना नोत्सहे वस्तुमिह दैत्यनिबर्हण।

गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र ते भ्रातरो गताः॥ ३७

यत्र सा बृहती श्यामा बुद्धिसत्त्वगुणान्विता।

द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा यत्रचैव गता मम॥ ३८

“दैत्यसूदन! अपने भाइयों के बिना मुझे यहाँ रहने का उत्साह नहीं होता; अतः मैं वहीं जाना चाहता हूँ, जहाँ मेरे भाई गये हैं तथा जहाँ ऊँचे कद वाली, श्यामवर्णा, बुद्धिमती, सत्त्वगुण सम्पन्ना एवं युवतियों में श्रेष्ठ मेरी द्रौपदी गयी है। (यहाँ युधिष्ठिर ने द्रौपदी को अपनी पत्नी कहा है, पाँचों पाण्डवों की नहीं)

स्वर्गारोहण पर्व के प्रथम अध्याय में स्वर्ग को त्रिविष्टप (तिब्बत) लिखा है-

स्वर्ग त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्व पितामहाः।

पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे॥ १

जनमेजय ने वैशम्पायन से पूछा- “मुने! मेरे पूर्व पितामह पाण्डव और धृतराष्ट्र के पुत्र स्वर्गलोक में पहुँचकर किन-किन स्थानों को प्राप्त हुए?”

स्वर्ग त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्व पितामहाः।

युधिष्ठिर प्रभृतयो यदकुर्वत तच्छृणु॥ ३

वैशम्पायन ने कहा- “जनमेजय! स्वर्ग में पहुँचकर तुम्हारे पूर्व पितामह युधिष्ठिर आदि ने जो कुछ किया, वह बताया जाता है, सुनो।”

प्रबुद्ध पाठक! जरो सोचिये, क्या यह सारा वर्णन महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुरूप नहीं है? आज भी हिमालय के प्रदेशों को देवभूमि कहा जाता है। कैलाश मानसरोवर को शिव की तपस्थली माना जाता है। तिब्बत के राजा इन्द्र को दलाई लामा कहा जाता है। जब देवता और स्वर्ग धरती पर थे और हैं, तो हम आकाश में क्या ढूँढ रहे हैं? माता-पिता, आचार्य, अतिथि, विद्वान्, परोपकारी सज्जन देव कहलाते हैं। सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है। हाँ, वैदिक देवता इन्द्र (सूर्य, मेघ) आकाश में रहते हैं, जिनके दरबार में अप्सराएँ (किरणें, बिजलियाँ) नाचती हैं।

द्रौपदी के विषय में भी एक और मिथ्या धारणा समाज में प्रचलित है कि उसने दुर्योधन को ‘अन्धे का

अन्धा’ कहकर मजाक उड़ाया था। यद्यपि इस विषय में ‘दयानन्द सन्देश’ अप्रैल २०१४ में लिखा जा चुका है, तथापि कुछ बिन्दुओं पर चिन्तन करते हैं-

जब दुर्योधन पाण्डवों के सभाभवन में धक्के खा रहा था, तो वहाँ (महा० सभा०, अ० ४७ में) उसे देखकर हँसने वालों में द्रौपदी का नाम भी नहीं लिखा है। वास्तव में दुर्योधन पाण्डवों के धन वैभव से ईर्ष्या कर रहा था और उसे पाना चाहता था। यह बात उसने शकुनि को बताई थी। शकुनि ने उसे पाने का उपाय बताया था- जुआ खेलना। उसके लिए धृतराष्ट्र की अनुमति लेनी आवश्यक थी। धृतराष्ट्र से जब पूछा गया, तो उसने विदुर की सलाह लेनी चाही। इस पर दुर्योधन ने कहा-

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षता समेष्यति।

निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहमसंशयम्॥

(सभा० ४६-४५)

“विदुर जी जब आपसे मिलेंगे, तब अवश्य ही आपको इस कार्य से निवृत्त कर देंगे। राजेन्द्र! यदि आपने इस कार्य से मुँह मोड़ लिया, तो मैं निःसन्देह प्राण त्याग दूँगा।”

यह सुनकर धृतराष्ट्र पर पुत्र-मोह सवार हो गया और उसने द्यूत के लिए सभा-भवन बनाने का आदेश दे दिया। पता लगने पर विदुर ने मना किया, तो दुर्योधन ने (५०वें अध्याय के २५-३५वें श्लोक तक) धृतराष्ट्र पर पुनः दबाव बनाने के लिए पाण्डवों के सभाभवन में हुए अपने अपमान (उपहास) को नमक-मिर्च लगाकर कहा- हँसने वालों में श्रीकृष्ण, द्रौपदी और अन्य महिलाओं का भी नाम जोड़ दिया। पर दुर्योधन ने यह नहीं कहा कि द्रौपदी ने उसे ‘अन्धे का अन्धा’ कहा। हाँ, भीम के बारे में अवश्य कहा है कि उसने मुझे ‘धृतराष्ट्र पुत्र’ कहकर सम्बोधित किया (५०-३५)। इसके पहले और तुरन्त बाद वाले तीन अध्यायों में दुर्योधन ने पाण्डवों की राज्यलक्ष्मी का ही वर्णन किया है, जिसे वह किसी भी उपाय से पाना चाहता था। बड़े-बड़े उपदेशक भी द्रौपदी को व्यर्थ ही बदनाम करते रहते हैं। फिर इतिहास की रक्षा कौन करेगा?

□□

स्वामी विवेकानन्द : एक परामर्श (3)

(स्वामी संकल्पानन्द सरस्वती)

संस्था स्थापना

दयानन्द ने १० अप्रैल, १८७५ तदनुसार चैत्र शुक्ल पंचमी वि.सं. २०३२ के दिन मुम्बई में संसार का सर्वप्रथम आर्यसमाज स्थापित किया। उनके द्वारा निर्धारित आर्यसमाज के दस नियम और उद्देश्य विश्व मानव की शान्ति एवं उन्नति के लिए हैं। इन नियमों में न किसी प्रकार की मत-पन्थ की संकीर्णतारूपी बदबू है और न ही साम्प्रदायिकता का कोई लक्षण। संसार के किसी भी मत-पन्थ-सम्प्रदाय, रंग, नस्ल या तथाकथित जाति के सभी वर्ग के स्त्री-पुरुष आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकते हैं, उसके सदस्य बन सकते हैं। दयानन्द ने अपनी उत्तराधिकारिणी सभा का नाम 'हिन्दू हित सभा', 'हिन्दू उपकार सभा' या 'आर्यसमाज उपकार सभा' इत्यादि नहीं रखा। वे मूलतः गुजराती थे, किन्तु इस सभा का नाम 'गुजराती सभा' भी नहीं रखा। उन्होंने नाम रखा- 'परोपकारिणी सभा'। इससे दयानन्द के मन की गहराई, दिल की चौड़ाई तथा चिन्तन की थाह का पता चलता है। वे वास्तव में विश्व हितैषी थे। विदेशों के चक्कर काटने मात्र से कोई मनुष्य वैश्विक नहीं बन सकता। मुझे स्मरण आता है मारीशस का, जो अपने आपको 'लघु भारत' कहलाने में गर्व अनुभव करता है। वह देश आर्यसमाज का गढ़ है। उसमें फ्रेन्च, मुसलमान तथा हिन्दू ये तीनों जातियों के लोग बसते हैं, तथापि एक आर्यसमाजी बैरिस्टर दिवंगत श्री शिवसागर रामगुलाम जी जो वहाँ के राष्ट्रपति थे, उनका स्वागत संसार की सर्वोच्च सभा संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.) द्वारा संसार का प्रथम श्रेष्ठ नागरिक की उपाधि से किया गया, जो आर्यसमाज के लिए भूषण रूप है।

आइए, अब विवेकानन्द की तुलना करते हैं। उन्होंने १८६६ में न्यूयॉर्क में वेदान्त समिति की स्थापना की जिसकी शाखाएं डेट्राइट, बोस्टन आदि नगरों में भी

स्थापित की गईं। यहाँ तक तो ठीक है, परन्तु उनके सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान, मान्यताएं विदेशों में या भारत में किसी प्रकार पनप न सकीं। वेदान्त के तत्त्वज्ञान का अन्त तो विवेकानन्द ने स्वयं के खानपान तथा विचारों से ही किया था, जिसमें वेदान्त या प्रस्थानत्रयी को दोष देने की बजाय स्वयं स्वामी जी ही दोषी पाए जाते हैं।

सर्वधर्म समन्वय

दयानन्द और विवेकानन्द दोनों समन्वय चाहते थे। विवेकानन्द की मान्यता थी कि सर्व धर्म अपनी-अपनी जगह बने रहें, परन्तु सारे मिलकर रहें। वे तो विदेशों में खुले आम कहते थे कि इस्लाम के बिना हिन्दू धर्म अपूर्ण है। उन्होंने नैनीताल निवासी अपने एक मुस्लिम मित्र को दि० १० जून १८६७ को लिखे पत्र में ऐसी बात लिखी थी। इसी पत्र में विवेकानन्द ने लिखा था - "हमारी मातृभूमि के लिये हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों विशाल मतों का सामंजस्य - वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर - यही आशा है।" (दिवेकानन्द - एक जीवनी, पृ० २७६) एक स्थान पर विवेकानन्द कहते हैं - "मैं ऐसा भारत बनाना चाहता हूँ, जिसका मस्तिष्क वेदान्त का हो और शरीर इस्लाम का।" (वही, पृ. ७६) उनका मत था कि हिन्दू धर्म अधूरा धर्म है, भारत के लिए हिन्दुत्व और इस्लाम का मिश्रण अनिवार्य है। शायद इसी विचार के बलबूते पर कलकत्ता उच्च न्यायालय में रामकृष्ण मिशन की ओर से लिखित घोषणा की गई थी कि हम हिन्दू नहीं हैं। वैदिक मौलिक मूल्यों को ठीक से आत्मसात न कर पाने के कारण ही विवेकानन्द इस तरह भटक गये थे।

दयानन्द ने १८७७ में 'दिल्ली दरबार' के अवसर पर समस्त मत-मजहबों के अग्रणियों तथा विद्वानों की एक सभा दिल्ली में आयोजित की थी। परन्तु इसमें प्रत्येक ने अपने-अपने मत-मजहब के सिद्धान्त, तत्त्व

और मान्यताओं की दुहाई दी। ऐसे में समन्वय कैसे हो सकता था? दयानन्द का कहना था कि हम सब लोग समस्त सर्वमान्य शाश्वत श्रेष्ठ बातों की एक सूची तैयार कर उसी के आधार पर एक आचार संहिता बना लें और समस्त धर्मानुयायियों से उसी का पालन करवाए तो देश तथा विश्व में एक सत्य और मानवतावादी धर्म प्रस्थापित हो सकता है। परन्तु खेद की बात है कि दयानन्द के इस सर्वहितकारी सुझाव को उन विशिष्ट व्यक्तियों ने मान्य नहीं किया। उनमें से कोई भी अपने मत-मजहब की त्याग कर प्रस्तावित वैश्विक धर्म को मानने के लिए उद्यत नहीं हुआ और सब जैसे के तैसे बने रहें। यदि उस समय दयानन्द की इस मानव कल्याणकारी और दूरदर्शिता पूर्ण योजना को उपस्थित विद्वत्गण ने स्वीकार कर लिया होता, तो संसार के ६६ प्रतिशत लड़ाई-टंटे, खून-खराबे आदि से संसार बच गया होता। यही सच्चे अर्थ में 'सर्व-धर्म-समन्वय' होता। महात्मा गान्धी की सर्वधर्म समभाव की नीति गलत और अव्यावहारिक होने से निष्फल हो गई और धर्म के नाम पर १५ लाख निर्दोष लोगों की निर्मम हत्याएं की गईं, अरबों-खरबों की आर्थिक हानि हुई और द्वि-राष्ट्रवाद पनपा, देश खण्डित हुआ। उदाहरण के तौर पर अगर हमें हलवा, मोहनभोग या सिरा आदि बनाना है, तो इसके लिए रवा या सूजी, शक्कर, घी इत्यादि चाहिए। सब को यथायोग्य रीति से मिलाने से ही इष्ट मिठाई तैयार हो सकेगी। इसके लिए इन सभी पदार्थों को अपना-अपना अस्तित्व या पहचान खोनी पड़ेगी। अगर सूजी कहे कि मैं तो सूजी ही रहूँगी, शक्कर कहे कि मैं तो शक्कर ही बनी रहूँगी और घुलूँगी नहीं। घी कहे कि मैं ऐसा ही रहूँगा, पिघलूँगा नहीं, तो विचार कीजिए कि क्या ऐसे में कभी हलवा आदि बन सकता है, सब को अपने-अपने अस्तित्व को मिटाना ही होगा, तभी कोई एक मिष्ठान्न तैयार हो सकेगा। परन्तु ऐसा न होने से दयानन्द द्वारा प्रस्तावित विचार अस्वीकृत किए जाने से संसार मात्र की हानि हुई। इस प्रकार की विचार भावना और वृत्ति विवेकानन्द में हमें ढूँढने से भी

नहीं मिलती है।

एक स्थान पर विवेकानन्द कहते हैं- “बुद्ध ने हमारा सर्वनाश किया और ईसू ने यूनान (ग्रीक) और रोम का सर्वनाश किया।” (प्राच्य और पश्चिम, पृ. १५) एक अन्य स्थान पर विवेकानन्द कहते हैं- “ईश्वर ने ईसा होकर जन्म लिया।” (देववाणी, पृ. ४०) इतना ही नहीं, वे तो यहाँ तक कहते थे कि ईसा, मुहम्मद और चंगेजखाँ की तलवारों एकता के लिए उठाई गई थीं। (विवेकानन्द-एक जीवनी, पृ. २८६) अरे, ऐसी मान्यता तो कोई इतिहास का अज्ञानी ही रख सकता है।

स्वदेशी-स्वराज्य

‘आमार सोनार बांगला’ की घोषणा समस्त बंगाल के लिए बहुत से काल से प्रचलित है। बंगाल ने चैतन्य महाप्रभु जैसे सन्त महात्माओं, अरविन्द घोष जैसे योगियों, रविन्द्रनाथ ठाकुर जैसे श्रेष्ठ प्रतिभाशाली कवियों, जगदीशचन्द्र बोस जैसे वैज्ञानिकों तथा अन्य अनेकानेक साहित्यकारों तथा क्रान्तिकारियों को जन्म दिया है। ‘वन्दे मातरम्’ का नारा इसी बंगाल ने दिया है। बंगाल में क्रान्तिकारियों की सुदीर्घ पंक्ति थी, जिसके कारण ही एक जर्मन महानुभाव ने बंगालियों के लिए कहा था- ‘The Bengalis are the Frenchmen of India.’ अर्थात् बंगाली लोग भारत के फ्रेंच हैं। खुदीराम बोस, कन्हैयालाल दत्त, प्रफुल्ल चन्द्र चाकी, सत्येन्द्र बोस, रास बिहारी बोस, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जैसे तरुण युवकों ने मातृभूमि की आजादी के लिए अपने प्राण तक न्योछावर कर दिए। क्रान्तिकारियों के मुकुटमणि नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को कौन भारतीय भुला सकता है? ऐसी स्वर्णमय भूमि में विवेकानन्द ने जन्म पाया, युवा और त्यागी हुए। फिर भी स्वदेशी या स्वदेश की मुक्ति के लिए उन्होंने कुछ भी ठोस कार्य नहीं किया ऐसा लिखने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम में देश के कई साधु-सन्तों ने ईश्वरभक्ति के साथ-साथ अपनी देशभक्ति का भी ज्वलन्त परिचय दिया था। कई लोगों की धारणा है कि दयानन्द ने १८५७ से १८६० तक का अपना अज्ञात जीवन राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के लिए व्यतीत किया था। पण्डित श्याम जी

कृष्ण वर्मा को इंग्लैण्ड भेजकर पार्लियामेन्ट एवं राजधानी लन्दन में भारतीय स्वातन्त्र्य का बिगुल उन्होंने ही तो बजाया था। दयानन्द ने आर्याभिविनय, सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में स्वदेशी, स्वराज्य आदि विषयक विचार सुस्पष्ट और निर्भयता-पूर्वक प्रस्तुत किए हैं। वेदों में 'स्वातन्त्र्य' शब्द नहीं है परन्तु अदीन शब्द अवश्य है। स्वाधीनता अच्छी है, पराधीनता मृत्यु है। 'No Nation is good enough to govern another Nation.' अर्थात् कितना भी अच्छा विदेशीय शासन क्यों नहीं हो, वह स्वराज्य की तुलना में सदैव हेय है। दयानन्द की यह धारणा बड़ी प्रबल थी और यहाँ इसे उद्धृत करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। आजादी के आन्दोलन में भाग लेने वालों में लगभग ८० प्रतिशत लोग दयानन्द के दिवाने आर्यसमाजी ही थे। ये हैं दयानन्द के शिष्य! देश के कई राष्ट्रीय नेताओं एवं इतिहासकारों ने दयानन्द तथा आर्यसमाजियों के राष्ट्रीय योगदान की संस्तुति की है। देश, धर्म, सामाजिक सुधार इत्यादि के लिए दयानन्द के शिष्यों ने २४ लड़ाइयाँ लड़ीं और ७६ बलिदान दिए। कितने 'वेदान्ती' ऐसा बलिदान दे पाए हैं, यह विचारणीय है।

कोई पाठक आपत्ति कर सकता है कि स्वदेशी, स्वराज्य आदि वेदान्तियों के विषय नहीं हैं। बात तो ठीक प्रतीत होती है, परन्तु वेदान्त का प्रचार-प्रसार यह तो उनका कार्य है कि नहीं? मानना ही पड़ेगा कि प्रचार उन लोगों का कार्य तो है और विवेकानन्द ने वह किया भी है। तब बताइए कि उन्होंने अपने मत को प्रतिष्ठापित करने के लिए कितने शास्त्रार्थ किए? उत्तर होगा, एक भी नहीं। उनका प्रचार क्षेत्र प्रायः पाश्चात्य देश रहे हैं, जो आध्यात्म की ए-बी-सी-डी भी नहीं जानते थे। उन लोगों के सामने विवेकानन्द ने बड़ा नाम कमाया। यह तो ऐसी बात हुई, जैसे मरुभूमि में कि जहाँ पर एक भी वृक्ष नहीं पनपता है, वहाँ एरण्ड के पौधे को ही बड़ा वृक्ष मान लिया जाता है। तब उन पाश्चात्य देशों में यदि श्रेष्ठता भी पाई, तो इसमें कोई बड़ा कमाल नहीं किया। दयानन्द ने वैदिक आर्य धर्म को प्रतिष्ठापित

करने के लिए देश भर में विभिन्न स्थानों पर तत्कालीन उच्च कोटि के विद्वान् पण्डितों, मौलवियों तथा पादरियों से अनेक शास्त्रार्थ कर उन वेदविरोधियों के छक्के छुड़ा दिए। १८६६ में ज्ञान एवं विद्या की नगरी काशी में 'क्या वेद में मूर्तिपूजा है?'- इस विषय पर काशी नरेश की उपस्थिति में दयानन्द ने काशी के १८ प्रकाण्ड पण्डितों के साथ अकेले टक्कर ली थी। तब एक भी माई का लाल वेदों से मूर्तिपूजा सिद्ध कर नहीं सका। क्या वेदज्ञान से युक्त ऐसी विद्वत्ता विवेकानन्द में प्रतीत होती है?

आजादी की लड़ाई में क्रान्तिकारियों को सहयोग देने की बजाय विवेकानन्द ने मां-बाप अंग्रेज सरकार को प्रसन्न करने के लिए रामकृष्ण मिशन को आन्दोलन में भाग लेने से मना किया था। यह तो बड़ी विचित्र एवं खेदजनक बात है।

वेदों का भाष्य

वेदों के यौगिक अर्थ करते हुए भाष्य करना कोई मामूली बात नहीं है। सायणाचार्य, महीधर, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि के वेद-वेदान्त आदि के भाष्यों को पढ़कर ही विवेकानन्द को वेदों के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ हुई थीं, परन्तु उन्होंने सत्य जानने का प्रयास नहीं किया। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के १६वें अध्याय में मन्त्रांश आता है- 'श्वभ्यः नमः' जिसका महीधरादि ने अर्थ किया है- कुत्तों को नमस्ते। फिर एक मन्त्रांश है- 'तस्कराणां पतये नमो नमः' अर्थात् चोरों के सरदार को नमस्ते। ऐसे अनर्थों को पढ़ने से ही वेदों की महत्ता मटियामेट हुई है। परन्तु दयानन्द की सही विशेषता यही है कि उन्होंने निरुक्त और निघण्टु के आधार पर 'नमः इति दण्डम्' अर्थात् चोरों के सरदार को दण्ड दो, ये अर्थ किए हैं। यदि इसी प्रकार सम्पूर्ण वेदों के सत्यार्थ को जान लिया होता, तो मैक्समूलर जैसे पाश्चात्य विद्वान् वेदों को 'गड़रियों के गीत' न कहते। ध्यातव्य है कि दयानन्द के वेदार्थ को पढ़कर यही मैक्समूलर बाद में वेदों की प्रशंसा करने लगे थे। क्या विवेकानन्द की कार्य-कुशलता में ऐसी बात दृष्टिगोचर होती है?

यज्ञ-विज्ञान को जानने और तदनुसार आचरण करने से त्याग, भौतिक-मानसिक-सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति, तप और साधना में उत्तम सहायता प्राप्त होती है। यज्ञ प्राणीमात्र के कल्याण की कामना से परिपूर्ण है। दुर्भाग्य है कि विवेकानन्द का वैदिक संस्कृति के इस महत्वपूर्ण अनुष्ठान के संवर्धन या प्रचार-प्रसार की दिशा में किसी भी प्रकार का प्रयास या योगदान हमें दृष्टिगोचर नहीं होता है। वेदाध्ययन से शून्य थे। वेदान्ती वैष्णव कहलाते हैं परन्तु वैष्णव धर्म या वैष्णव आचार निभाने में भी वे स्वयं कोसों दूर थे। पंचमहायज्ञादि रूप दैनिक प्रगति योजना, आश्रम पद्धति रूप शतवर्षीय योजना या गुण-कर्म-स्वभाव अनुसार वर्ण-व्यवस्था इत्यादि की ओर उनका ध्यान नहीं रहा। प्रस्थानत्रयी अन्तर्गत वे भले गीता को मान्य करते थे, फिर भी यज्ञ, वर्ण-व्यवस्था, ईश्वर का निज नाम 'ओ३म्' (ओम्) इत्यादि मूलभूत बातों के प्रचार-प्रसार में उनकी रुचि नहीं के बराबर थी। गुरुडम से वे स्वयं को दूर नहीं रख सके। वे बार-बार हिन्दू नाम से हिन्दू धर्म की दुहाई देते रहे किन्तु क्या उन्होंने या किसी अन्य ने कभी इस बात का विचार किया है कि 'हिन्दू' नामक कोई धर्म संसार में विद्यमान है या नहीं?

पातञ्जल अष्टांग योग साधना किंवा गायत्री मन्त्र के जाप आदि के प्रचार-प्रसार के लिए भी विवेकानन्द का कोई विशेष योगदान नहीं दिखाई देता। केवल 'राजयोग' पर व्याख्यान से तो काम नहीं चलेगा। यदि उपर्युक्त बातों की ओर विवेकानन्द ध्यान देते, तो उनका कीर्तिध्वज और ऊँचा लहराता।

विवेकानन्द उवाच - कुछ अन्तरंग उद्धरण

- वैदिक युग में प्रतिमा-पूजन का अस्तित्व नहीं था। उस समय लोगों की यह धारणा थी कि ईश्वर सर्वत्र विराजमान है। बुद्ध के प्रचार के कारण हम जगत स्रष्टा एवं अपने सखा स्वरूप ईश्वर को खो बैठे और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिमापूजन की उत्पत्ति हुई। लोगों ने बुद्ध की मूर्ति गढ़ कर पूजा करना प्रारम्भ किया। (देववाणी, पृ० ७५)

- मूर्तिपूजा हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग नहीं है। (हिन्दू धर्म, पृ० २३)

- God in the picture is right but picture is God is wrong. (The Complete Works of Swami Vivekananda, Volume I, p. 47)

- अमरनाथ में मूर्ति के दर्शन कर कहा- मूर्ति साक्षात् भगवान् है। The image was the Lord Himself, (Biography, p. 270-271)

- प्रतिमाएं भी श्री भगवान् की विशेष गुणवाचक मूर्तियाँ हैं। (विवेकानन्द चरित, पृ० १४६)

- श्री रामकृष्ण ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि पौराणिक देवताओं से भी ऊपर साक्षात् नारायण ही हैं। (द्र० पत्रावली, भाग १, पृ. १३८)

- बुद्ध ने हमारा सर्वनाश किया और ईसू ने ग्रीक और रोम का सर्वनाश किया। (प्राच्य और पाश्चात्य, पृ० १५)

- बुद्धदेव ने आकर साधारण लोगों में वेदान्त का प्रचार करके भारतवर्ष की रक्षा की। (ज्ञानयोग, पृ. १५७)

- Buddha said - Believe no book, the Vedas are all humbug. Buddha was the first man to give the world a complete system of morality. (VII, p. 40-41)

- ईश्वर करे, जगत् कभी भी एक धर्मावलम्बी न हो। (भारत में विवेकानन्द, पृ० ३५८)

- I say, eat large quantities of fish and meat. (विवेकानन्द के संग में, पृ. २६७)

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि-

- विवेकानन्द मूर्तिपूजा, मठ-स्थापना, अवतारवाद, मांसाहार आदि से स्वयं को मुक्त नहीं कर सके।

- विवेकानन्द के विचार भारतीयों को ईसाई, मुसलमान बनने से रोक नहीं सकते।

- यदि विवेकानन्द की विचाराधारा रही, तो भारतीयों का ईसाई हो जाना बुरा नहीं माना जाएगा, बल्कि श्रेयस्कर होगा। इसको वे रोक नहीं सके।

- विवेकानन्द जन्मना जातिवाद, छुआछूत, अस्पृश्यता,

स्वार्थी-ढोंगी-भोगी महन्त और पुजारी वर्ग रूपी कलंक, गुरुडम, जन्मपत्री आदि का फलित ज्योतिष, जल-स्थलादि रूप तथाकथित तीर्थों का पाखण्ड, इत्यादि धार्मिक तथा सामाजिक कलंक मिटाने में कार्यक्षम नहीं थे, प्रत्युत वे स्वयं इनके शिकार होते रहे।

अतः केवल स्वामी विवेकानन्द के नाम की डफली बजाने वालो! मैं उनके द्वारा स्थापित बेलूर मठ की

रामकृष्ण मिशन की संस्था में १९५६-६० के वर्ष में सतत पाँच महीने रहा हूँ और मैंने वहाँ की गतिविधियाँ अच्छी तरह से देखी हैं। मेरा उद्देश्य किसी की भावना को चोट पहुँचाना बिल्कुल नहीं है, किन्तु सत्यान्वेषण कर सत्य को जानना, मानना और सत्याचरण करना ही उद्देश्य है। आशा है कि आप स्वयं न्याय दृष्टि से निर्णय करेंगे। इति शम्।

□□

पृष्ठ ६ का शेष

सकने का भाव है। समाधि-परिणाम में सर्वार्थता की शक्ति, जो हम सभी में स्वतः पाई जाती है, उसका क्षय होता है, और एकाग्रता की शक्ति उत्पन्न होती है। तृतीय, एकाग्रता-परिणाम में क्षणिक परिवर्तनों की चर्चा है, जो कि छोटे परिवर्तनों को कहते हैं, धर्म-परिवर्तन को नहीं। यह व्यास-भाष्य अनुसार ही है। इन परिणामों को मिट्टी से घट के परिवर्तन से समझा जा सकता है- मिट्टी जब घट में परिवर्तित होती है, तब वह चूरा-चूरा न रहकर, एक दृढ़ आकार में स्थिर हो जाती है। यह धर्म-परिणाम है। उसमें पानी सोकने की शक्ति नष्ट हो जाती है, इसलिए उसमें पानी जमा करने की शक्ति आ जाती है। यह लक्षण-परिणाम है। तीसरे, उसकी जो बीच की स्थितियाँ हैं- पिण्डाकार, कच्चा घड़ा, तपाया गया घड़ा आदि- वे सब अवस्था-परिणाम हैं।

इस प्रकार समझने से ज्ञात होता है कि ३/१३ सूत्रानुसार चित्त के पतञ्जलि व्याख्यात परिवर्तनों के साथ-साथ शरीर के अन्य भूतों (कोषिकाओं आदि) और इन्द्रियों में भी समान परिवर्तन होता है। व्यास ने तो ये परिवर्तन नहीं बताए हैं। इन्द्रिय के परिवर्तन मुझे कुछ समझ आए हैं। वे इस प्रकार -

१) चित्त के साथ-साथ, इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं- वे कार्यरत नहीं रहती हैं। यह है उनका धर्म-परिणाम।

२) इन्द्रिय में भी एकाग्रता की शक्ति आ जाती है- वे एक विषय में निरन्तर ध्यान लगा सकने वाली हो जाती हैं। यह है उनका लक्षण-परिणाम।

३) निरुद्ध होने से पहले- पहले, इन्द्रियाँ अपनी

चंचलता त्यागने लगती हैं। यह है उनका अवस्था-परिणाम। शेष शरीर में कैसे ये परिवर्तन होंगे, यह मुझे समझ नहीं आया। सम्भवतः कुछ पहुँचे हुए योगी-जन इस पर प्रकाश डाल सकते हैं।

दर्शनादि पुरातन ज्ञान-ग्रन्थों में 'एतेन व्याख्यातम्' से प्रायः दो विषयों की समानता बताकर, दूसरे विज्ञाय को पुनः नहीं दोहराया जाता। इसी प्रकार, यदि दो समूहों की संख्या बराबर हो, तो वे क्रमशः विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध वाले होते हैं, जैसे कि अष्टाध्यायी में। यहाँ निरोध-, समाधि- और एकाग्रता-परिणाम व धर्म-, लक्षण- और अवस्था- परिणाम में यही सम्बन्ध है। इन दो कारणों से ३/१३ सूत्र को उपर्युक्त प्रकार से समझना ही सम्यक् प्रतीत होता है।

□□

भूल सुधार

दयानन्द सन्देश के अंक अप्रैल २०१७ के लेख 'योगदर्शन में जन्म-मृत्यु का चक्र' लेख को पृष्ठ ८ पर मुद्रित चित्र के स्थान पर इस चित्र के साथ पढ़ें।



चित्र : जन्मचक्र और उसके चक्र

**‘विद्या अविद्या सहित मनुष्यों के यथार्थ धर्म का
प्रकाशक सर्वोपरि महान ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश’
(मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून, मो०:-09412985121)**

चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद सृष्टि की आदि में उत्पन्न ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है, जो ईश्वर ने चार ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा की आत्माओं में प्रेरणा द्वारा प्रकट वा स्थापित किया था। इन चार ऋषियों ने ईश्वर की ही प्रेरणा से चारों वेदों का ज्ञान पंचम ऋषि ब्रह्मा जी को कराया। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में पाँच ऋषि हुए। उन्हीं से अध्ययन व अध्यापन की परम्परा आरम्भ होकर वर्तमान समय तक चली आई है। यदि ईश्वर वेदों का ज्ञान न देता, तो संसार में तब भी व उसके बाद भी अन्धकार ही अन्धकार होता, विद्या का प्रकाश कदापि न हुआ होता। जिस प्रकार ईश्वर ने सूर्य, चन्द्र व पृथिवी आदि सभी लोक-लोकान्तरों व जड़ पदार्थों सहित पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और आकाश को बनाया है, उसी प्रकार मनुष्यों की प्रमुख आवश्यकता ‘ज्ञान’ को जानकर उसका प्रकाश भी ईश्वर ने ही सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाश-प्रकाशक लोकों की भाँति ईश्वर ने ही किया है। संसार या ब्रह्माण्ड में ईश्वर ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी है। ज्ञान का आदि स्रोत व अन्तिम स्रोत भी ईश्वर ही है। जीवात्मा में जो ज्ञान है, वह सब ईश्वर से ही उसको प्राप्त होता है भले ही वह इसके प्राप्त करने में ईश्वर प्रदत्त शरीर से कुछ पुरुषार्थ व तप अवश्य करता है। यदि ईश्वर ज्ञान न दे, तो जीवात्मा स्वयं ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। जीवात्मा व मनुष्यों में यह सामर्थ्य नहीं कि वह सृष्टि के आरम्भ में भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति कर सके। ज्ञान का निमित्त कारण

ईश्वर ही है। ज्ञान की वाहक व धारक बुद्धि परमात्मा ही बनाता है। यदि वह उसमें ज्ञान ग्रहण करने व धारण करने की सामर्थ्य उत्पन्न न करता, तो मनुष्य कुछ भी कर लेता, वह वेद से भी ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता था। मनुष्य ईश्वर का सदा सर्वदा ऋणी है, जिससे कुछ नाममात्र उद्धार होने के लिए ही वेदों में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना का विधान किया गया है। ईश्वर की स्तुति करने से जीवात्मा की उससे प्रीति होती है, ईश्वर से प्रार्थना करने से जीवात्मा में अहंकार का नाश होता है और ईश्वर की उपासना करने से ईश्वर के सभी सद्गुण जीवात्मा में प्रविष्ट होकर जीवात्मा को आत्मोन्नति कराने के साथ मोक्ष प्रदान कराने में भी सहायक होते हैं। यहाँ वैदिक नियम का उल्लेख भी कर दें जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नियम है कि सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उनका आदि मूल परमेश्वर है। यह नियम ऋषि दयानन्द द्वारा वैदिक ज्ञान के आधार पर निर्मित है। यह नियम आर्यसमाज का प्रथम नियम भी है। नियम में कहा गया है कि सब सत्य विद्याओं का आदि मूल परमेश्वर है। परमेश्वर ही सब पदार्थों, जो ब्रह्माण्ड में हैं, उनका भी आदि मूल है। इस नियम में वेदोत्पत्ति और सृष्टि रचना की झलक मिलती है कि यह ईश्वर से ही हुई हैं।

जो मनुष्य कोई ज्ञानपूर्वक कार्य करता है, तो उस ज्ञानपूर्वक किये गये कार्य के कारण उसको उस विषय का ज्ञानी कहा जाता है। एक अध्यापक कक्षा १० में

विज्ञान पढ़ाता है। वह जितना पढ़ाता व जानता है, उस सीमा तक वह ज्ञानी होता है। हमारा यह समस्त ब्रह्माण्ड भी ज्ञान व बुद्धिपूर्वक रचा गया है। जिसने रचा है, वह सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान सत्ता ही हो सकती है। उसका सत्, चित्त, आनन्दस्वरूप, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान व सर्वातिसूक्ष्म आदि गुणों वाला होना आवश्यक है। अतः अध्यापक की भाँति सृष्टि रचना करने और जीवात्माओं को मनुष्य आदि शरीर देकर उनका पालन व कर्म-फल भोग की व्यवस्था करने से वह ईश्वर ज्ञानी व न्यायकारी सिद्ध होता है। ऋषि दयानन्द ने सत्य ज्ञान वा सच्चे ईश्वर की खोज के लिए ही अपने माता-पिता, कुटुम्बियों व घरबार व समस्त साँसारिक सुखों को छोड़ा था। उन्होंने देश भर में घूम कर ज्ञानियों की संगति व सान्निध्य को प्राप्त किया था और उनसे उपलब्ध ज्ञान को प्राप्त किया था। वह योग की शरण में भी गये और उच्च योगियों से योग सीख कर योग में भी पूर्ण दक्षता प्राप्त की थी। मथुरा के गुरु विरजानन्द सरस्वती के पास जाकर उन्होंने सन् १८६० से सन् १८६३ तक लगभग ३ वर्ष अध्ययन कर वैदिक व्याकरण, वेदों के सिद्धान्तों व मान्यताओं का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त किया था। सच्चे योगियों व ज्ञानियों की खोज में वह उत्तराखण्ड के वन व पर्वतों सहित दुर्गम प्रदेशों में भी एकाकी घूमे थे। देश भर में आपको जहाँ से जो भी ग्रन्थ प्राप्त होता था, आप उसका वैज्ञानिक बुद्धि अर्थात् तर्कपूर्ण विवेचना करते हुए अध्ययन करते थे। इस प्रकार १७ वर्ष के कठोर तप व पुरुषार्थ से वह वेदज्ञान तक पहुँच पाये थे। उन्होंने वेदों को प्राप्त किया और उसका अनुशीलन व पर्यालोचन कर उनकी अन्तःसाक्षी से जाना कि वेद वस्तुतः ही ईश्वरीय ज्ञान के आदि स्रोत हैं। वेदों की

उत्पत्ति व वेदज्ञान के महत्व को उन्होंने सत्यार्थप्रकाश सहित अपने अन्य ग्रन्थों व प्रवचनों आदि में उल्लेख कर उस पर युक्तिसंगत प्रकाश डाला है। इससे सिद्ध होता है कि वेद ही ईश्वरीय सत्य ज्ञान के ग्रन्थ हैं। इनकी तुलना में संसार का कोई ग्रन्थ नहीं है। मत-मतान्तर के ग्रन्थ तो अविद्या से भरे पड़े हैं। इन अविद्या से भरे ग्रन्थों का अध्ययन कर व उनका आचरण कर मनुष्य जीवन के उद्देश्य व लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। लक्ष्य की प्राप्ति तो केवल वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों के अध्ययन व आचरण से ही हो सकती है।

यह संसार ईश्वर के द्वारा निर्मित एवं संचालित है। विज्ञान के सभी नियमों का पालन इस संसार वा ब्रह्माण्ड में हो रहा है। विज्ञान की परिभाषा यह भी की जा सकती है कि ईश्वरीय नियमों का सूक्ष्म व विशद ज्ञान ही विज्ञान है। यही तो हमारे सभी वैज्ञानिक करते हैं। सृष्टि रचना को देखकर ईश्वर के ज्ञान की गम्भीरता व गहनता तथा व्यापकता के दर्शन होते हैं। ईश्वर ज्ञानस्वरूप है। इसी कारण उसका ज्ञान वेद भी विद्या व ज्ञान की कसौटी पर शत-प्रतिशत सत्य पाया जाता है। मत-मतान्तरों के किसी ग्रन्थ में यह बात नहीं है। महाभारत काल के बाद वेदों का ज्ञान तत्कालीन लोगों के आलस्य व प्रमाद से विलुप्त प्रायः हो गया था। ऋषि दयानन्द के पुरुषार्थ से यह पुनः सुलभ हुआ है। संसार में ज्ञान के समान कोई वस्तु पवित्र व उससे अधिक मूल्यवान नहीं है। ज्ञान से मनुष्यों को दुःखों से मुक्ति मिलती है। मृत्यु होने पर जन्म-मरण से अवकाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह लाभ वेदाध्ययन या वेदों के स्वाध्याय सहित उनके आचरण, दोनों एक साथ होने, पर प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द को इसका आदर्श उदाहरण कह सकते हैं।

वेदों के ज्ञान को ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन काल १८२५-१८८३ में उस युग व समय की आवश्यकता के अनुरूप सन् १८७५ में सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ रचकर प्रदान किया। वेदों की ही भाँति सत्यार्थ प्रकाश भी वैदिक सत्य सिद्धान्तों व मान्यताओं को आर्यभाषा हिन्दी में प्रस्तुत करने वाला धर्मग्रन्थ है, जो मनुष्य को अविद्या से मुक्त कर धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति कराता है। सत्यार्थप्रकाश को चौदह समुल्लासों में रचा गया है। इसका एक-एक शब्द अविद्या का नाश करता है और सत्य ज्ञान का अमृत अपने पाठकों को पिलाता है, जिससे वह अमृत अर्थात् जन्म मरण से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्ष ही सच्चा व श्रेष्ठतम अमृत है। इसकी तुलना में संसार के सभी पेय तुच्छ हैं। सत्यार्थप्रकाश में निहित दो शब्दों के अर्थ पर विचार करें, तो सत्य पदार्थों के अर्थ का प्रकाश करना ही सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ का उद्देश्य है। संसार में ईश्वर, जीव व प्रकृति ही तीन अनादि, नित्य, अविनाशी, अमर पदार्थ हैं। इन तीनों शाश्वत व सनातन पदार्थों पर इस ग्रन्थ में व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। अन्य धर्मग्रन्थों का अध्ययन करने पर ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं होता, जो सत्यार्थप्रकाश पढ़कर होता है। पदार्थों सहित सृष्टि, मनुष्य के कर्तव्यों व अकर्तव्यों का बोध भी सत्यार्थप्रकाश पढ़कर होता है। ईश्वरोपासना क्या, क्यों व कैसे का सन्देश भी इससे मिलता है। यज्ञ क्या, क्यों व कैसे करें? का वर्णन भी सत्यार्थप्रकाश में किया गया है। मूर्तिपूजा, फलित ज्योतिष, अवतारवाद, कृत्रिम भाग्यवाद, सामाजिक असमानता को दूर करने के विचार भी इस ग्रन्थ में है। राजधर्म का यथार्थ स्वरूप सत्यार्थ प्रकाश में पढ़ने को मिलता है। सत्यार्थप्रकाश के चौदह समुल्लासों में ईश्वर के नामों की व्याख्या, बालशिक्षा विषय, भूत-प्रेत

आदि का निषेध, जन्मपत्र व सूर्य आदि ग्रह-समीक्षा, अध्ययन, अध्यापन विषय, समार्वतन व विवाह विषय, वानप्रस्थ संन्यासाश्रम विधि, राजधर्म विषय, ईश्वर विषय, जीवन की स्वतन्त्रता, वेद विषय, सृष्टि उत्पत्ति विषय, नास्तिक मत का मोक्ष विषय, आचार-अनाचार, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि शताधिक विषयों का विस्तृत व व्यापक ज्ञान सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में कराया गया है। उत्तरार्ध के चार समुल्लासों में आर्यावर्त देश के मत-मतान्तरों का खण्डन व मण्डन, मूर्तिपूजा समीक्षा, तीर्थ शब्द का यथार्थ अर्थ, शिव भागवत पुराण समीक्षा, शैवमत समीक्षा, नास्तिक मत समीक्षा, चारवाक मत समीक्षा, बौद्ध व जैन मत समीक्षा आदि सहित ईसाई व यवनमत समीक्षा पर भी सारगर्भित प्रकाश डाला गया है। यह ग्रन्थ न भूतो न भविष्यति श्रेणी का है। हम इसे वेद के बाद दूसरे स्थान पर रख सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य को इसे पढ़कर सत्य ज्ञान का बोध प्राप्त करना चाहिये।

लेख को विराम देने से पूर्व निवेदन है कि यदि ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित न किया होता, तो देश और आर्य हिन्दू जाति का भविष्य सुरक्षित न रहता। सत्यार्थ प्रकाश के अभाव में विश्व में कभी सुख व शान्ति स्थापित नहीं हो सकती थी। यदि विश्व के सभी मत-मतान्तर सत्यार्थप्रकाश व वेद-वर्णित ईश्वर व धर्म के स्वरूप को मान लें, तो मानवता की रक्षा होकर सर्वत्र सुख व शान्ति को स्थापित किया जा सकता है। सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन कर व इसे आचरण में लाकर मनुष्य जन्म-मरण सहित परजन्म के सभी दुःखों से बचकर अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त कर सकते हैं।

ओ३म् शम्।



स्वामी दयानन्द का यज्ञ विषयक दृष्टिकोण (गृह्यसूत्रों के सन्दर्भ में) (डॉ. उदयन आर्य, प्राचार्य, गुरु विरजानन्द गुरुकुल महा., करतासपुर)

वेद दुनिया की प्राचीनतम पुस्तक है और उन वेदों को पढ़ने-पढ़ाने की श्रृंखला में वेदांगों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। ये वेदांग हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

कल्पसूत्रों के चार भाग हैं- श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्ब। प्रत्येक वेद के अपने-अपने गृह्यसूत्र हैं। गृह्य का तात्पर्य गृहस्थ आश्रम से है अर्थात् करणीय- अकरणीय कर्मों का वर्णन गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के तीनों ही गृह्यसूत्रों (आश्वलायन, शांखायन तथा कौषितिकि) का विशेष अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि पौराणिक जगत् में जितनी भी परम्परा यज्ञ के नाम पर प्रचलित हैं, उनका कहीं-न-कहीं किसी न किसी रूप में सन्दर्भ गृह्यसूत्रों में ही प्राप्त होता है। ऋषि दयानन्द द्वारा भी बहुत सारी यज्ञ की विधि-विधानों का सन्दर्भ भी गृह्यसूत्र ग्रन्थ ही है। अब प्रश्न यह है कि दोनों ही प्रकार की विधियों में कौन-सी विधि उपयुक्त या उचित मानी जाये? सायण, महीधर, उब्बट आदि भाषकारों ने भी वेदों के जिन मन्त्रों के अर्थ हिंसापरक अथवा अश्लीलता युक्त किया है, वो कहीं-न-कहीं इन गृह्यसूत्रों की देन है। वस्तुतः स्वामी जी वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं तथा उनके सभी व्याख्या ग्रन्थों को परतः प्रमाण की श्रेणी में रखते हैं। यदि केवल मात्र गृह्यसूत्रों की विधि-विधान के आधार पर यजमान यज्ञ करना चाहे, तो कदापि सम्पूर्ण यज्ञ नहीं कर सकता। किसी भी गृह्यसूत्रकार ने सम्पूर्ण यज्ञ से सम्बन्धित किसी भी विधि-विधान को पूर्ण रूप से उल्लेख नहीं किया है। जैसे यज्ञ की सामग्री कितनी और क्या होनी चाहिए? यज्ञ के समय किन मन्त्रों का पाठ होना चाहिए? वेदज्ञ अथवा वेदपाठी की योग्यता किस प्रकार की होनी चाहिए? इत्यादि अन्य अनेकों प्रश्नों का समाधान का पूर्ण विवरण ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों में प्राप्त नहीं होता है। ऋषि दयानन्द

पहले वह व्यक्ति हैं, जिन्होंने उन-उन विधियों का ही उल्लेख एवं विधि-विधान दिया है जो वेद सम्मत, विज्ञानयुक्त तथा प्राणिमात्र के हितकारक हैं। वस्तुतः गृह्यसूत्रों को पढ़ते समय यह विशेष अवधान देना चाहिए कि गृह्यसूत्रकार जिस-जिस विधि का वर्णन या उल्लेख करते हैं, वह सब प्रमाणिक नहीं है क्योंकि प्रत्येक विधि का गृह्यसूत्रकार समर्थन नहीं करते हैं। अपितु तत्कालीन परम्पराओं का भी उल्लेख करते हैं और इस प्रकार के ग्रन्थों को पढ़ने से यह ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन काल में किन-किन परम्पराओं का समाज में प्रचलन था। इन्हीं परम्पराओं के कारण पौराणिक जगत् में इन्हीं विधियों का उल्लेख मिलता है। स्वामी जी गृह्यसूत्रों से विशिष्ट एवं अति आवश्यक विधियों को लेकर सुन्दर सरल एवं सुव्यवस्थित यज्ञ का स्वरूप प्रदान किया है। इसलिए यह हमारे सामने यज्ञ परम्परा ऋषि दयानन्द द्वारा प्रणीत अतुलनीय एवं सारगर्भित है।

त्रयः पाकयज्ञाः हुता अग्नौह्यमाना अनग्नौ प्रहुता ब्राह्मभोजने ब्रह्मणि हुताः।।

इस प्रकरण से सुतरां स्पष्ट है कि अग्नि में आहुति करना तो यज्ञ है ही बिना अग्नि के बलिवैश्व कर्म भी यज्ञ ही है तथा साथ में ब्राह्मणों को भोजन कराना भी यज्ञ ही कहा गया है। सायं-प्रातः कालीन होम जिनमें केवल आहुति दान होता है, उन्हें हुत कहा गया है। जिनमें हवि नहीं देते तथा बलिकर्म भी नहीं करते आदि क्रियाओं को आहुत कहते हैं। वे पाकयज्ञ, जिनमें आहुति दान के साथ बलिकर्म भी होता है, उन्हें प्रहुत कहते हैं। जैसे :- यज्ञ, ब्राह्मण-भोजन आदि।

यज्ञ विभेद :-

शास्त्रीय परम्परा में यज्ञों को दो विभागों में विभक्त किया गया है। श्रुति अर्थात् वेद में विहित श्रौतयज्ञ और स्मार्त अर्थात् गृह्यसूत्रों में वर्णित स्मार्तयज्ञ। साक्षात्

वेदसंहिताओं में यज्ञों के नाम तो यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं परन्तु कोई क्रमिक विभाग प्राप्त नहीं होता है। वस्तुतः कात्यायन के “मन्त्रब्राह्मणयोवेदनामधेयम्” इस कथन के अनुसार मन्त्रसंहिता और तद् व्याख्यानभूत ब्राह्मणों को वेद मानने के कारण ब्राह्मणग्रन्थों में विशद रूपेण वर्णित यज्ञों को श्रौतयज्ञ कहा गया है। ये पाँच हैं १) अग्निहोत्र, २) दर्शपौर्णमास, ३) चातुर्मास, ४) निरुद्धपशुबन्ध और ५) सोमयाग। स्मृति-विहित यज्ञों को स्मार्त कहा जाता है। वस्तुतः इन यज्ञों का मूल स्रोत गृह्यसूत्र है। विभिन्न स्मृतियों मनुस्मृति आदि में भी इन यज्ञों का वर्णन गृह्यसूत्रों की अपेक्षा अधिक लोक प्रचलित होने से इन यज्ञों को स्मार्त संज्ञा प्राप्त हुई।

आश्वलायन ने वेदाध्ययन को ब्रह्मयज्ञ कहा है। परन्तु ऋषि दयानन्द प्रातः व सायंकाल ब्रह्मयज्ञ की विधि में सन्ध्योपासना का विधान करते हैं तथा यह प्रत्येक आर्य के लिए नित्यकर्म कहकर उसकी आवश्यकता को बतलाते हैं। यहाँ स्वामी जी का अभिप्राय यह है कि प्रातःकालीन ब्रह्मयज्ञ में व्यक्ति द्वारा किए गए रात्रिकाल में पापाचरण का प्रायश्चित्त करते हुए रात्रिकालीन दिनचर्या का मूल्यांकन करना तथा सायंकालीन ब्रह्मयज्ञ का उद्देश्य दिवसीय पापाचरणों का प्रायश्चित्त तथा दिवसीय कार्यों का मूल्यांकन करना। आश्वलायन स्वाध्याय के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास और पुराणों के ग्रन्थों का अध्ययन बतलाते हैं। अर्थवाद के रूप में आश्वलायन कहते हैं कि जो ऋग्वेद का अध्ययन करता है, उसके पितरों के लिए दूध की नदियाँ स्वधाकार से साथ प्रवाहित होती हैं। इत्यादि अन्य ग्रन्थों के अध्ययन का महत्व अर्थवाद के रूप में बतलाते हैं। वेदों का स्वाध्याय स्वयं करने से पितरगण कैसे तृप्त होंगे, ऐसा कोई प्रयोजन या महत्व गृह्यसूत्रकार नहीं बतलाते हैं। साधारण रूप से सभी यह स्वीकार करते हैं कि जो जैसा प्रयत्न और पुरुषार्थ करेगा, उसका फल उसको ही मिलता है। परन्तु यहाँ पर विपरीत दिखाई दे रहा है कि ब्रह्मयज्ञ का फल पितरों की तृप्ति के लिए है। कहीं-न-कहीं इस

प्रकार के विधि-विधानों का प्रयोजन या महत्व विद्वानों के लिए पुनः विचारणीय है। ब्रह्मयज्ञ के प्रकरण में शांखायन सन्ध्योपासना कर्म कहकर विधान करते हैं कि जंगल में जाकर समित्पाणिः होकर नित्य मौन धारण कर उत्तर की ओर मुख करके अन्वष्ट देश में नक्षत्रों के दर्शन से पूर्व में सन्ध्या करता है। कुछ रात्रि व्यतीत होने पर महाव्याहुतिपूर्वक सावित्री मन्त्र और स्वस्त्यन को जप करके फिर सन्ध्या करता है, इसी प्रकार प्रातः प्राङ्मुख बैठता हुआ सम्पूर्ण सूर्य के दर्शन पर्यन्त सन्ध्या करनी चाहिए। सूर्यदेव के समुदित होने पर स्वाध्याय करना चाहिए। ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रकारों ने ब्रह्मयज्ञ के सन्दर्भ में कोई विशेष व्याख्या, विधि तथा किन मन्त्रों का पाठ करना चाहिए आदि कुछ भी विस्तृत विवरण नहीं दिया है। कहीं-न-कहीं इस यज्ञ की विधि में अपूर्णता प्रतीत होती है। अगर कोई व्यक्ति गृह्यसूत्रकारों के अनुसार ब्रह्मयज्ञ करना या कराना चाहे, तो शायद यह कार्य सम्भव नहीं है। दुःखद तो यह भी है कि ब्रह्मयज्ञ का विशेष प्रयोजन भी नहीं दिया है। बहुधा यह सुनने में आता है कि वेदांग और उपांग वेद के सहायक ग्रन्थ हैं। परन्तु मेरे द्वारा विस्तृत ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों के अध्ययन के उपरान्त ऐसा कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता। पौराणिक परम्परा में जो विज्ञान विरुद्ध बातें दिखाई देती हैं, वे भी इन्हीं गृह्यसूत्रों की देन हैं। यथा श्राद्ध, तर्पण आदि अन्य गृह्यकर्म वर्णित है।

शोध करते समय शोधार्थी को किसी भी मत के विषय में पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं होना चाहिए और मैंने भी इस परम्परा का पालन किया है। संक्षेप में, यही कहना चाहता हूँ कि जो अमूल्य व अतिमहत्वपूर्ण विधि-विधान, प्रयोजन, उपयोगिता, सुव्यवस्थित मन्त्रों का संग्रह ऋषि दयानन्द द्वारा प्रणीत संस्कार विधि आदि अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं है। विशेष महत्व इस बात का भी है स्वामी जी द्वारा प्रणीत विधि अतीव सरल है साथ ही साथ उसकी उपयोगिता भी स्वतः सिद्ध है।

“मैं” का बोध : आत्म-दर्शन

(डॉ. रमेश दत्त मिश्र, जानाबाजार, जि. फैजाबाद, उ.प्र.)

आपके शरीर को जो शक्ति चला रही है, उसी का नाम आत्मा है। आत्मा चेतनशक्ति है। इसी शक्ति के कारण शरीर का अस्तित्व है। जब यह शक्ति शरीर को छोड़ देती है, तब आपका शरीर जड़ हो जाता है। किसी काम का नहीं रहता। इसलिये आपके शरीर और विचार के पीछे जो सत्ता हमेशा बनी रहती है, वही आत्मा है। आत्मा की अनुभूति हर व्यक्ति को होती है। आप अनुभव करते हैं मेरा शरीर। आप अनुभव करते हैं मेरा विचार। यह अनुभव करने वाला आपकी आत्मा है।

इस बात को ऐसे समझें। आप कुछ देर आँखें बन्द करके बैठ जायें। अपने शरीर पर ध्यान न दें, तो शरीर का ज्ञान नहीं रहता। वह खो जाता है, लेकिन आँखें बन्द करके बैठ जाने पर भी मन के विचार बन्द नहीं होते। वे बने रहते हैं। जब आप कहते हैं मेरा शरीर तो इससे साफ पता चलता है कि आपके शरीर के पीछे कोई बैठा है, जो शरीर को मेरा कहता है। शरीर से अलग होकर जब आप कहते हैं मेरा विचार तो भी इससे साफ पता चलता है कि आपके विचार के पीछे कोई बैठा है, जो विचार या मन को मेरा कहता है। अगर आप अपने से शरीर को अलग करके देखें, तो मन रह जाता है। अगर मन या विचार को भी अपने से अलग करके देखें, तो कुछ तो है, जो रह जाता है, बचा रहता है जिसके कारण आप कहते हैं मेरा शरीर, मेरा विचार। शरीर से, मन से, विचार से अलग होने पर जो बचा रहता है, जिसकी आपको अनुभूति बनी रहती है, वही आत्मा है। आप कभी एकान्त में ध्यान करने बैठें, तो आप देखेंगे कि आपके सामने बहुत से

विचार आते-जाते रहते हैं। ये विचार आपके भीतर कहाँ से पैदा होते हैं? ये सारे विचार आपके मन से पैदा होते हैं। मन विचारों का उद्गम स्थल है। वहाँ से सारे विचार पैदा होते हैं। अगर एक-एक विचार को, भाव को आप शांत करते जायें। उसके साथ तादाम्य स्थापित न करें। वे जैसे आते हैं, उन्हें वैसे ही चले जाने दें। उन पर कोई ध्यान न दें। आप ऐसा अनुभव न करें कि ये विचार, भाव मेरे हैं, तो वे अपने आप शांत हो जायेंगे। विचारों के, भावों के शांत होने पर आपके भीतर जो चेतना की अनुभूति, अपने होने की अनुभूति, 'मैं हूँ' की अनुभूति बनी रह जाती है, वही आत्मा है और उसी को आत्मा का दर्शन भी कहते हैं।

आना-जाना विचारों और भावों की प्रकृति है। वे आते हैं, चले जाते हैं, टिकते नहीं हैं, एक विचार, भाव हमेशा स्थिर नहीं रहता। एक के स्थान पर दूसरे विचार, भाव आते रहते हैं। इन विचारों, भावों को जो देखता है, अनुभव करता है वह स्वयं आपका मन नहीं है। आपके मन ही तो स्वयं ये भाव और विचार हैं। वह जो मन से अलग है। विचार या मन या भावों को देखता है, अनुभव करता है, आत्मा है।

आत्म-दर्शन का मतलब क्या है? मैंने इस विषय में कई विद्वानों, साधकों से पूछा। चर्चा भी की। लेकिन कोई सटीक उत्तर नहीं मिला। यह पढ़ने-लिखने की चीज नहीं है। अनुभव करने की चीज है। साधना की चीज है। जो लोग आत्म-दर्शन का मतलब किसी उपकरण से, साधन से आत्मा को देख लेना समझते हैं, वे गलती पर हैं। आत्मा अदृश्य है, चैतन्य रूप है उसे किसी भी

उपकरण से देखा नहीं जा सकता। सारे उपकरण का आधार आत्मा है। शरीर, इन्द्रिय, मन सबका अस्तित्व आत्मा के कारण है। जो अभौतिक है, अतीन्द्रिय है, उसे इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता। प्रश्न उठता है कि तब आप उसे कैसे देखेंगे। क्या उसे देखा नहीं जा सकता? क्या आत्म-दर्शन संभव नहीं है? इसके उत्तर में मेरा कहना है कि आत्म-दर्शन आत्मानुभूति का नाम है, स्वानुभूति का नाम है। जब आप शरीर से अलग हो जाते हैं; मन से अलग हो जाते हैं, भावों से अलग हो जाते हैं, संकल्प-विकल्प से अलग हो जाते हैं, विचारों से अलग हो जाते हैं, तब जो कुछ रह जाता है, वही आपका अस्तित्व है। आपके अस्तित्व की अनुभूति स्वयं उसी के द्वारा होती है, किसी दूसरे उपकरण के द्वारा नहीं। अपने अस्तित्व की अनुभूति ही आत्म-दर्शन है।

जैसे दीप को दीप से दिखाया नहीं जाता है। दीपक में अपनी ज्योति होती है, उसी से दीपक का दर्शन हो जाता है। वैसे ही चैतन्य रूप आत्मा पर शरीर, इन्द्रिय और मन के पर्दे पड़े हैं। जब वे पर्दे हट जाते हैं, तब चैतन्य रूप आत्मा का स्वयं अनुभव हो जाता है।

इस बात को दूसरे तरीके से समझें। माना कि आत्मा, मन, इन्द्रिय, इन्द्रिय-विषय, शरीर एक दूसरे के ऊपर एक परत के बाद दूसरी परत के रूप में रखे हुए हैं। इनमें सबसे ऊपर की परत शरीर है। आप उसे हटा दें। उसके बाद दूसरी परत इन्द्रियों की है, आप उसे भी हटा दें। उसके बाद इन्द्रियों के विषयों की परत है आप उसे भी हटा दें। उसके बाद मन की परत है, उसे भी हटा दें। अन्त में आत्मा की परत रह जाती है, जिसे हटाया नहीं जा सकता। क्योंकि यह आपका रूप है, आपका अस्तित्व है। सब परत हटाने के बाद जो अस्तित्व की अनुभूति बची रह जाती है, वही आत्म-दर्शन है, आत्म-अनुभव है, आत्मा का साक्षात्कार है। आपका

शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय और मन के साथ जो तादाम्य-भाव बना हुआ है, एकता का भाव बना हुआ है वह गिर जाय तो उसके गिरते ही जो अनुभूति बची रह जाती है, उसी का नाम आत्मा का दर्शन है।

आपको पता है कि अगर आपके सामने कोई विषय न रहे, तब भी आपकी चेतना में जानने की, देखने की क्षमता बनी रहती है। आप जो देखते हैं, जानते हैं, वह सब आपकी चेतना में बाहर से आया हुआ होता है, तभी तो आप देखते हैं, जानते हैं। आपकी चेतना में बाहर से जो कुछ आया है, उसे छीन लिया जाय, हटा दिया जाय, तो आप चेतना-शून्य नहीं हो जाते। आपको अपने होने की अनुभूति रहती है। यह अनुभूति आत्म-दर्शन है, आत्मबोध है। जब तक आप बाहर की दुनिया को देखते हैं, तब तक आप अपने को भूल जाते हैं। जब आप बाहर की दुनिया को देखना बन्द कर देते हैं, तब आप अपने में अवस्थित हो जाते हैं। अपने में अवस्थित होना ही आत्म-दर्शन है।

अगर आपकी एक-एक इन्द्रिय को काट दिया जाय, तो भी आपको बोध होता है कि आप हैं। मान लो कोई आप का हाथ काट दे, तो भी आप को बोध होता है कि आप हैं। कोई आप की आँखें निकाल ले, तो भी आप को बोध होता है कि आप हैं। कोई आपकी जिह्वा काट दे, खाल उधेड़ ले तो भी आप को बोध होता है कि आप हैं। सारी इन्द्रियों को काट देने पर भी 'मैं' का बोध बना रहता है, यह किस इन्द्रिय से बना रहता है, सारी इन्द्रियाँ तो काट दी गयीं। यह 'मैं' का बोध किसी इन्द्रिय के कारण नहीं है। यह अपने आप है। इसका कोई कारण नहीं है। इसलिये यह "मैं" का बोध ही आपका अस्तित्व है, जो इन्द्रियों के कट जाने के बाद भी बना रहता है। यही 'मैं' का बोध ही आत्म-दर्शन है।



साहित्य समीक्षा
The Causeless Cause (The Eternal Wisdom of Swetaashwatara Upanishad)
(भावेश मेरजा, भरुच-गुजरात, दूर०:-02642203531)

पुस्तक का नाम : The Causeless Cause (The Eternal Wisdom of Swetaashwatara Upanishad)

अर्थात् 'कारण-रहित कारण'-श्वेताश्वतरोपनिषद् की शाश्वत ज्ञान-सम्पदा।

लेखिका - श्रीमती उत्तरा नेरूरकर, बेंगलुरु

प्रकाशक : झेन पब्लिकेशन्स, मुम्बई

प्राप्ति के लिए : एमेझोन की निम्नलिखित लिंक से पुस्तक मंगाई जा सकती हैं-

<https://www.amazon.com/Causeless-Cause-Eternal.../B01MXVWL7Y>

संस्करण : प्रथम, नवम्बर २०१६

मूल्य : रु. २००/-

कुल पृष्ठ : १०८

इस अंग्रेजी पुस्तक की लेखिका वैसे तो आईआईटी कानपुर की इंजीनियरिंग की स्नातिका हैं और इन्फोसिस आदि कई प्रतिष्ठित कम्पनियों में उन्होंने लगभग १५ वर्ष सर्विस की है, फिर भी पिछले १६-१७ वर्ष से उनकी अभिरुचि वैदिक साहित्य तथा संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की ओर हो गई है। उनके संस्कृत, व्याकरण, वेद, उपनिषद्, योगदर्शन आदि विषयक कई विद्वत्तापूर्ण लेख 'दयानन्द सन्देश', 'वेद-वाणी' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

वे देश-विदेश में आयोजित विभिन्न संगोष्ठियों, सेमिनारों तथा कान्फ्रेंसिस आदि में उपस्थित होकर पुरातन भारतीय ज्ञान-सम्पदा के महत्व को उद्घाटित करने का प्रयास करती रहती हैं। २०१५ में बैंकॉक में आयोजित संस्कृत कान्फ्रेंसिस में उन्होंने न्याय-दर्शन विषयक अपना शोधपत्र प्रस्तुत कर इस वैदिक सूत्र ग्रन्थ से अपने

श्रोताओं को परिचित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

उनकी प्रस्तुतियाँ (प्रजेंटेशन्स) यू-ट्यूब पर भी देखी जा सकती हैं। वे बेंगलुरु में संस्कृत, मनुस्मृति, अपनिषद्, गीता आदि का अध्ययन कराती हैं और जिज्ञासुओं को वैदिक साहित्य से सुपरिचित कराती हैं।

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती के द्वारा प्रस्थापित वैदिक मन्तव्यों के प्रति लेखिका की प्रतिबद्धता उनके द्वारा प्रस्तुत श्वेताश्वतर उपनिषद् की अंग्रेजी व्याख्या रूप इस विवेच्य पुस्तक में सर्वत्र झलकती है।

वैसे तो प्रमुख १० उपनिषदों में श्वेताश्वतर उपनिषद् की गणना नहीं होती है, परन्तु महर्षि दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में श्वेताश्वतर अपनिषद् के कई वचन प्रसंगानुसार प्रमाण रूप में उद्धृत किए हैं। विशेष रूप से सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम और अष्टम समुल्लासों में वैदिक त्रैतवाद (ईश्वर, जीव और प्रकृति - ये तीन अनादि तत्त्वों पर आधारित दर्शन) के प्रतिपादन में महर्षि दयानन्द ने श्वेताश्वतर उपनिषद् का भी आधार लिया है।

पण्डित भीमसेन शर्मा, पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित राजाराम शास्त्री, स्वामी सत्यानन्द, प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धन्तालंकार तथा पण्डित जगत्कुमार शास्त्री आदि अनेक विद्वानों ने श्वेताश्वतर उपनिषद् पर भाष्य या व्याख्याएं लिखी हैं। इस उपनिषद् में कुल ६ अध्याय और ११३ पद्य या श्लोक हैं। इसमें जगत् का कारण, मोक्ष-प्राप्ति, ब्रह्म का स्वरूप, त्रैतवाद, सृष्टि, प्रश्नोत्तर एवं ईश्वर-समर्पण का प्रमुखता से वर्णन किया गया है।

इस उपनिषद् में वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् सहस्रशीर्षा पुरुषः द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया आदि कुछ प्रसिद्ध वेदमन्त्र ज्यों के त्यों या किंचित् पाठ-परिवर्तन के साथ समाविष्ट हैं। इससे भी इस उपनिषद् की महत्ता की वृद्धि हुई है।

विदुषी लेखिका ने श्वेताश्वतर उपनिषद् की इस अंग्रेजी व्याख्या में वैदिक दर्शन को यथायोग्य रूप में प्रस्तुत किया है। आज की भागदौड़ भरी जीवन-शैली व परिवेश में अंग्रेजी जानने वाले वर्ग को इस पुस्तक के माध्यम से वैदिक तत्त्वज्ञान से परिचित करने के उद्देश्य से लेखिका ने इस पुस्तक का प्रणयन किया है।

पुस्तक की भूमिका में लेखिका ने लिखा है कि आधुनिक शिक्षा-प्राप्त जिन लोगों को वेद, दर्शन शास्त्र, उपनिषद् आदि के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं या नाम मात्र का जानकारी है, उन पाठकों को इस पुस्तक के माध्यम से वैदिक दार्शनिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान से सुपरिचित कराने का हेतु इस पुस्तक को लिखने का रहा है।

इस पुस्तक में प्रथम मूल उपनिषद् का श्लोक देवनागरी में दिया गया है और फिर उसका ४-६ पंक्तियों में अंग्रेजी में अर्थ दिया गया है। फिर आगे आवश्यकता

के अनुसार श्लोकगत किसी विशेष शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में लिखा गया है और श्लोक का तात्पर्य स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार क्रमशः सभी ११३ श्लोक सुगम, सरल और प्रभावशाली अंग्रेजी भाषा में व्याख्यायित किए गए हैं।

आर्यसमाज में अंग्रेजी भाषा का साहित्य अपेक्षाकृत कम ही है। ऐसे में उत्तरा जी की यह नवीन अंग्रेजी कृति आवकार्य है- विशेष रूप से विदेशों में स्थित आर्यसमाजों के लिए यह अंग्रेजी पुस्तक प्रचार के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

आशा है कि आर्यसमाज के क्षेत्र में इस पुस्तक का स्वागत होगा और आर्यसमाज के द्वारा संचालित स्कूल, विद्यालय और महाविद्यालय के अंग्रेजी जानने वाले जिज्ञासु छात्रों एवं अध्यापक वर्ग तक इस पुस्तक को पहुँचाने की दिशा में आर्यसमाज के अधिकारी लोग प्रवृत्त होंगे।

वैसे इस पुस्तक की उपयोगिता केवल आर्यसमाज तक सीमित नहीं है। पाठक चाहे किसी भी विचारधारा को माननेवाला हो, यह पुस्तक उसे श्वेताश्वतर ऋषि के वैदिक चिन्तन से परिचित कराने में पूर्णतः सक्षम है।

पुस्तक की गुणवत्ता आकार, आवरण, छपाई, जिल्द आदि सभी दृष्टियों से उत्तम है।

□□

पृष्ठ २ का शेष

दुःखं च प्राप्तवान् धीरं भृगुशापेन भारत ।।३७।।

देवी भागवत स्कन्द ६ अध्याय ७ श्लोक ३४ से ३७,

भृगु ऋषि की पत्नी का सिर काट देने के कारण भगवान् विष्णु भृगु ब्राह्मण के शाप से पशु योनियों में जन्मे, और वामन बनकर राजा बली के घर में भिक्षा मांगने के लिए गये। पाप कर्म करने वाला मनुष्य इससे अधिक दुख और क्या भोग सकता है?

रामा जी भी बनवास में सीता के वियोग से उत्पन्न

हुए घोर दुःख को भृगु शाप से प्राप्त हुए।

विष्णु ने जालन्धर का रूप बना कर वृन्दा से व्यभिचार किया, वृन्दा को जब व्यभिचार के पीछे पता लगा कि, यह मेरा पति जालन्धर नहीं है बल्कि यह तो विष्णु है, इस पर उसने शाप दिया-

हे विष्णो! पराई स्त्री के साथ व्यभिचार करने वाले तेरे इस स्वभाव को धिक्कार है, मैंने जान लिया तू छल कपट युक्त तपस्वी है, मुझको जैसे छल-युक्त तपस्वी द्वारा धोखा दिया गया है उसी प्रकार तुम्हारी पत्नी को भी कोई छली-कपटी, तपस्वी ले जायेगा।

आर./आर. नं० १६३३०/६७

Post in Delhi R.M.S

०५-११/५/२०१७

भार- ४० ग्राम

रजिस्टर्ड नं० DL (DG -11)/8029/2015-17

लाईसेन्स नं० यू (डी०एन०) १४४/२०१५-१७

Licenced to post without prepayment

Licence No. U (DN) 144/2015-17

पाठकों से निवेदन

- अपने पत्रों में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य ही लिखा करें, अन्यथा कार्यवाही सम्भव नहीं होगी।
- १५ तारीख तक प्रतीक्षा करके ही दुबारा अंक मँगाएं, यदि अंक न पहुँचा हो।
- यदि आप अपना पता बदलवायें तो यह ध्यान रखें कि बदले हुए पते पर अंक-प्रेषण एक माह बाद आरम्भ होगा।
- अंक के रेपर पर अपना पता चैक कर लिया करें। यदि कोई त्रुटि हो, तो सूचना दे दिया करें।
- जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त है, अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

ओ३म्

भारत में फैले सम्प्रदायों की निष्पक्ष व तार्किक समीक्षा के लिए उत्तम कागज़, मनमोहक जिल्द, सुन्दर आकर्षक छपाई एवं (द्वितीय संस्करण से मिलान कर शुद्ध प्रामाणिक संस्करण)

सत्य के प्रचारार्थ

सत्यार्थ प्रकाश

सत्य के प्रचारार्थ

● प्रचार संस्करण (अजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 50 रु.	प्रचारार्थ 30 रु.	प्रचारार्थ मूल्य पर कोई कमीशन नहीं
● विशेष संस्करण (सजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 80 रु.	प्रचारार्थ 50 रु.	
● स्थूलाक्षर सजिल्द 20×30÷8	मुद्रित मूल्य 150 रु.		प्रत्येक प्रति पर 20% कमीशन

10 या 10 से अधिक प्रतियाँ लेने पर विशेष अतिरिक्त कमीशन

कृपया, एक बार सेवा का अवसर अवश्य दें और महर्षि दयानन्द की अनुपम कृति सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार प्रसार में सहभागी बनें

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

427, मन्दिर वाली गली, खारी बावली, दिल्ली-6

Ph. : 011-43781191, 09650622778

E-mail : aspt.india@gmail.com

दिनेश कुमार शास्त्री
कार्यालय व्यवस्थापक
मो०-९६५०५२२७७८

श्री सेवा में

ग्राम.....

ज०.....

जिला.....

छपी पुस्तक/पत्रिका

दयानन्दसन्देश ● मई २०१७ ● २८

मुद्रक, प्रकाशक व सम्पादक धर्मपाल आर्य, स्वामित्व आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४२७, गली मन्दिर वाली, नया बांस, खारी बावली, दिल्ली-११०००६ से प्रकाशित एवं तिलक प्रिंटिंग प्रेस, २०४६, बाजार सीता राम, दिल्ली-११०००६ से मुद्रित।